आदरणीय
श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी जैन
सिद्धान्त शास्त्री
के
कर-कमलों
में
सादर
भेंट

— वीरेन्द्र

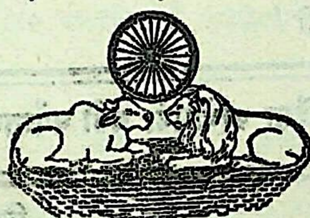
अलीगंज
दि० ७/५/६६

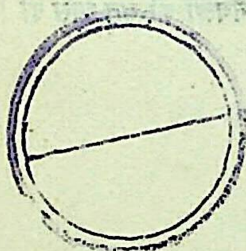
आधुनिक जैन काव्य ग्रन्थमाला ३

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर

रचयिताः—

वीरेन्द्र प्रसाद जैन





वीर नि० सं० २४८५
विक्रमाब्द २०१६
क्रिष्टाब्द १९५९

श्री अखिल विश्व जैन मिशन
अलीगञ्ज (एटा)
उ० प्र०

प्रथम संस्करण १०००

मूल्य ढाई रुपया

प्रकाशकः—
अखिल विश्व जैन मिशन,
अलीगंज (एटा)
उ० प्र०

जिओ और जीने दो !

अहिंसा परमोधर्मः यतो धर्मस्ततो जयः

निबलों को मत त्रास दो !

मुद्रकः—
महावीर मुद्रणालय,
अलीगंज (एटा)
उ० प्र०

अर्घ्य और समर्पण

अर्घ्य अर्पित है उन

अहिंसावतार, विश्ववंद्य, महामानव

अकथनीय गुण-निकर तीर्थङ्कर भ० महावीर को

जिनके अचिन्त्य पावन चरित्र को

यहाँ भक्तिवशात् शतांशिकांशिक रूप में

प्रस्तुत कर अपने को अहोभाग्य मान सका;

और

समर्पित है उन

पू० पिता जी (श्रीमान् बा० कामता प्रसाद जी)

एवं

पू० माता जी (श्रीमती सरस्वतीदेवी जी)

को

जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया

कि मैं अपने आराध्य देव को

श्रद्धार्घ्य चढ़ा सका!

—वीरेन्द्र

आभार-प्रदर्शन !

जैन साहित्यकारों ने भारतीय साहित्य के सभी अंगों को अपनी मूल्यमयी रचनाओं द्वारा समलंकृत किया है। तामिल, कन्नड़, अपभ्रंश आदि भाषाओं के आदि साहित्य निर्माता निस्सन्देह जैन साहित्यकार ही हैं। संस्कृत भाषामें 'चतुर्विंशति संधान' सदृश अद्भुत चमत्कारक रचनाओं को भी जैनों ने रचा है। हिन्दी भाषा साहित्य के आदिकाल में जैनों ने ही अपनी रचनाओं से उसको मूल्यमई बनाया है। अब भी जैन समाज ने साहित्य जगत को बैरिस्टर चम्पतराय जी जैन, श्री जैनेन्द्र जी प्रभृति उल्लेखनीय लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार प्रदान कियेहैं, किन्तु इतना होते हुये भी एक बात जो खटकती है वह यह है कि जैनों की पुरातन साहित्य परम्परा का पहले जैसा समुज्वल और प्रभावक रूप अब देखने को नहीं मिलता। जैन कथावार्ता को लेकर आधुनिक शैली में रचनाओं का प्रायः अभाव ही है। उसपर जैन महापुरुषों के आदर्श जीवन और बोधप्रद शिक्षाओं की परिचायत्मक नई रचनायें तो मिलती ही नहीं। आज हिन्दी भाषा को भारत की राष्ट्र भाषा होनेका गौरव प्राप्त है और उसमें एक दो अजैन साहित्यकारों ने जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर के पवित्र जीवन को काव्य वद्ध करने का सद्प्रयास भी किया, परन्तु जैन सिद्धान्त और जैन साहित्य का गम्भीर और गहन परिचय न होंने के कारण उसका ठीक निर्वाह वह न कर सके। इस परिस्थिति में अ० वि० जैन मिशन ने इस प्रकार के साहित्य के सृजन की आवश्यकता का अनुभव करके हिन्दी भाषा में 'आधुनिक जैन काव्य ग्रन्थमाला' नामक नई शैली की पुस्तकमाला का प्रारम्भ किया है, जिसमें अभी तक दो रचनायें प्रकाशित की जा चुकी हैं। प्रस्तुत रचना उसका तीसरा पुष्प है।

तीर्थङ्कर भ० महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं हैं और नहीं ही जैनधर्म हिंसक यज्ञ परम्परा के विरोध में उद्भूत हुआ है। यह दोनों ही मान्यतायें भ्रान्त और निराधार हैं। इस कल्पकालमें जैनधर्म की पुनर्स्थापना प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने उस प्राचीन युग में की थी, जब अन्तिम मनु नाभिराय इस संसार को सुशोभित कर रहे थे। उनके पश्चात् कालान्तर से २३ तीर्थंङ्कर और हुए, जिनमें सर्व अन्तिम भगवान महावीर थे। उन्होंने अपने समय की आवश्यकताओं को लक्ष्य करके जैनधर्म का पुनरोद्धार किया था। उन्हीं के प्रवचन और आदर्श लोक के लिए विशेष उपकारी हैं। यद्यपि उनके दो तीन जीवन चरित्र हिन्दी गद्य में प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु हिन्दी पद्य में एक प्रमाणिक काव्य का अभाव खटकता था। चि० वीरेन्द्र प्रसाद जैन, बी० ए०, सा० र०, साहित्यालङ्कार ने प्रस्तुत काव्य को रच कर उस अभाव की पूर्ति का सराहनीय प्रयास किया है। जिनेन्द्र के गुण अथाह गम्भीर हैं। उनका ठीक निर्वाह मानव बुद्धि से परे की वस्तु है। फिर भी उसके परिशीलनसे जो भावोंमें निर्मलता आती है उसके फलस्वरूप जो भी साहित्यप्रसून प्रस्फुटित हों वे सुन्दर और सुखद ही होते हैं। अतः प्रस्तुत रचना स्वागताई है। सौभाग्यवश इसका प्रकाशन भी दानवीर श्रीमान् साहु शान्तिप्रसाद जी जैन की उदारता से सुगम साध्य हो गया है। उनकी समुदार चित्तवृत्ति मिशन के कार्यों के प्रति आकृष्ट हुई और उन्होंने मिशन को एक हजार रुपया प्रदान किया। उस निधि का उपयोग इस प्रकाशन में किया गया है, जिसके लिए मिशन उनका आभारी है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्य सभी मिशन सदस्यों और विद्वानों को भेंट रूप में प्राप्त हो रहा है। कठिनाई से सौ-दोसौ प्रतियाँ ही शेष बचेंगी जिनको जनता पा सकेगी।

भविष्य में मिशन अपनी साहित्यनिर्माण योजना को श्रीमान् और धीमान् सहयोगियों की समुदार सहकारिता के बल पर ही सम्पन्न करने की आशा रखता है। विश्वास है, मिशन को पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

विनीत—

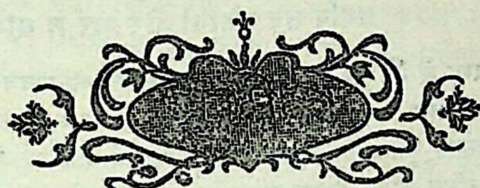
अलीगंज [एटा]
१८-४-५६

कामताप्रसाद जैन

आनरेरी संचालक
अ० विश्व जैन मिशन



श्रीमान् साहू शान्ति प्रसाद जी जैन, बी० ए०
कलकत्ता
(आपके ही आर्थिक सहयोग से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित हो रही है। एतदर्थ धन्यवाद।)



प्रस्तुत रचना महाकाव्य है अथवा खण्डकाव्य है या क्या ? — इस ओर मेरा कतई लक्ष्य नहीं है-और न इससे मुझे कुछ सरोकार ही है। यह जो कुछ भी है मेरे आराध्य के प्रति मेरा हार्दिक भक्तिभावयुत श्रद्धार्घ्य है।

तीर्थङ्कर गुणानुवाद बड़ा ही विशद् है तथा वर्णनातीत होता है। कवि 'भूधर' कहते हैं :—

'जिन गुन कथन अगम विस्तार, बुधि बल कौन लहे कवि पार ?'

इसी बात का प्रतिपादन कवि मनरंगलाल जी के निम्न दोहे में भी देखिए :—

'इन्द्र थके गणधर थके, अरु भुजगेश थकन्त।
जश वरनत जिनवर तनो, नर किम पार लहंत ?'

भक्त हरजसराय का भी यही मत है :—

'श्री जिन जग में को ऐसो बुधिवन्त जू,
जो तुम गुण वर्णन कर पावै अन्त जू।'

जब जिन गुण-गान की बात यह तब सर्वांग तीर्थङ्कर-जीवन को प्रकट करना सम्भव कहाँ ? साक्षात् केवली भगवान उसको अनुभव में ले आते हैं; परन्तु वे उसको मुख से वर्णन करने में समर्थ नहीं होते। अपने प्रतिद्वन्दी धर्मनेता म० बुद्ध से प्रशंसित, इतिहास प्रसिद्ध राजा श्रेणिक बिम्बसार द्वारा पूजित नर-अमर-वन्द्य तीर्थङ्कर भगवान महावीर के विषय में भी

जैनाचार्य का मत यद्यपि अतिशयोक्ति अलंकार युक्त है तथापि उनके अवर्णनीय गुणों की ओर इंगित करता है :—

असितगिरि समं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमूर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा, शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानां वीर पारं न याति ।।*

ऐसी दशा में मैंने जो यह तीर्थङ्कर भ०महावीर का पावन जीवनचरित् छन्दबद्ध करने का अतिसाहस किया वह भी सूर्य को दीपक दिखाने के सदृश है। उसका पूर्ण होना तो असम्भव है। यथार्थ बात यह है कि भगवान महावीर का समग्र जीवन ही वह शतपत्रीय आदर्श काव्य-कमल है जिसकी सुरभि- प्रसाद से अनुप्रेरित हो हर कोई अपनी श्रद्धाकृति कुसुमांजलि अर्पित कर सकता है। मैं भी उस महामानव के असाधारण व्यक्तित्व से आकर्षित हो भक्तिवश कुछ रच सका तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? 'भक्तामर स्तोत्र' में आचार्य मानतुङ्ग ने कहा है :—

सोहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः। ×
xxx xxx xxx
अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धामः,
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्। =

जब परमसुधी श्री मानतुङ्ग जैसे संस्कृताचार्य पुङ्गव अपने को शक्ति-हीन, अल्पज्ञ, विद्वानों के उपहासयोग्य बताते हैं तब भला मुझ जैसे हिन्दी-साहित्य के बच्चे का ठिकाना ही क्या ?

लेकिन वास्तव में यह भक्ति की शक्ति ही है जिसने मुझ से मेरे आराध्यके प्रति ११११ छंद लिखवा लिए। इन छंदों को लिखने में यद्यपि तीन साल का अन्तराल लगा पर यथार्थ में देखा जाय तो मैंने प्रतिसाल के दिसम्बर, जनवरी और इनके आस-पास के कुछ दिन—इसतरह लगभग ६

---

* अर्थ — समुद्र रूपी दावात में मेरु पर्वत जितनी रोशनाई डालकर संसार के सारे वृक्षों की कलमों से पृथ्वी रूपी कागज पर शारदा के सदैव लिखते रहने पर भी भ० महावीर के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन नहीं हो सकता।

× सो मैं शक्तिहीन थुति करूं, भक्तिभाववश कछु नहिं डरूँ।

= मैं शठ सुधी-हँसन को धाम, मुझ तव भक्ति बुलावै राम।

माह ही इस रचना में लगाए और महीनों में इसका अवलोकन (अपवादरूप छोड़कर) तक नहीं हो पाया । मैंने अपने जीवन के २५ वें वसन्त में इसे पूरा करने की सोची थीं पर आजके लोकरंजना के व्यस्त युग में परमार्थिक काम कब मनचाहे हो पाते हैं ? अतः इसमें भी देरी हुई । पर केवल एक साल कीहीं किन्तु मुझे हार्दिक परितोष है कि इस रचना के लिखने के मिस हीं मेरा समय अशुभोपयोग से शुभोपयोग में लगा । और मैं आशा करता हूं कि जो महानुभाव भी इसका परायण करेंगे, उनके समय का भी शुभोपयोग होगा, जो शुद्धोपयोग की ओर भी अग्रसर कर सकेगा ।

इस रचना की प्रेरणा कीं भी बात सुन लीजिए । जब मैं हाईस्कूल व इण्टर का विद्यार्थी था उससमय जब महात्मा तुलसीदास जी कृत 'रामचरित् मानस', राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' व 'हरिऔध' जी का 'प्रिय-प्रवास' आदि सु-काव्य ग्रन्थ पढ़े तो मुझे लगा कि तपःप्रधान श्रमणसंस्कृति के प्रचंड मार्तण्ड भ० महावीर पर भी किसी महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ का सृजन होना चाहिए । उस समय २० छदों की एक रचना भ० महावीर पर रच-ड़ाली और उसको एक-दो जैन आयोजनों पर सुनाया । श्रोताओं ने मंत्र मुग्ध होकर सुना और मेरी श्लाघा भी की। श्लाघा तो मुझे प्रकृत्यानुरूप पसंद नहीं आई पर श्रोताओं का मंत्रमुग्ध होकर सुनना जरूर अच्छा लगा । बाद को यह परिवर्द्धित रचना ५० छदों की हो गई । बी० ए० के अध्ययन के लिए मैं प्रयाग के जैन छात्रावास में रहा । इसीसमय भारतीय ज्ञान पीठ, काशी से प्रकाशित श्री अनूपशर्मा का 'वर्धमान' महाकाव्य का विज्ञापन पढ़ा । तभी छात्रावास के पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें भी मँगाई जाने वालीं थीं । मैंने उक्त पुस्तक का नाम दिया । पुस्तक आई और सबसे पहले मेरे हाथ आई । बड़े उत्साह से पढ़ना शुरू किया । पढ़ते-पढ़ते उत्साह तिरोहित होने लगा और उसका स्थान क्षोभ ने लेलिया । बात यह कि अटल तपस्वी तीर्थङ्कर भ० महावीर से सम्बन्धित जो काव्य हो उसका प्रधान रस श्रृंगार हो यह कभी भी उपयुक्त नहीं हो सकता। शैली परम्परागत शास्त्रीय हो पर विषयानु-रूप न हो तो वह अनुपयुक्त ही मानी जायगी । दूसरे जैनधर्म के महान उन्नायक के मुखारविन्द से ही जैन सिद्धान्तों के विपरीत सिद्धान्तों जैसे सृष्टि कृतित्ववाद आदि का प्रतिपादन कराना भी न्याय-संगत नहीं जान पड़ा । सामयिक पत्र–पत्रिकाओं के आलोचना स्तम्भ में इस बात की चर्चाएँ भी हुईं । फिरभी 'वर्धमान' बड़े ही परिश्रम से रची गई संस्कृत वर्णवृत्तों की अच्छी रचना है ।

यथार्थ बात यह कि भ० महावीर के जीवन को देखते हुए तो उनसे सम्बन्धित रचना के प्रकृतरूप में शान्तरस, करुणरस व वीररस (विशेषकर

धर्मवीर रस) का परिपाक होना ही श्रेयष्कर है। कहना न होगा कि अब जब मैं तटस्थ होकर अपनी इस रचना को देखता हूँ तो प्रतीत होता है कि इसमें प्रसंगानुरूप उपर्युक्त रसों का परिपाक स्वभावतः हो गया है। कहीं-कहीं सीमित श्रृंगार व अन्य रसों की भी छाप है। भक्ति तो है ही।

बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात जब मैं घर पर आगया, तब छात्रावास के कक्ष–साथी (Room Partner) श्री भोलानाथ गुप्त का कार्ड आया जिसके एक अंश का आशय यह था कि आप भ० महावीर पर काव्य लिखना चाहते थे वह लिख गया या नहीं ? —इसने मेरी सुसुप्त अभिलाषा को जागृत कर दिया और प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना होगई जिसके लिए मैं गुप्त जी का आभारी हूँ।

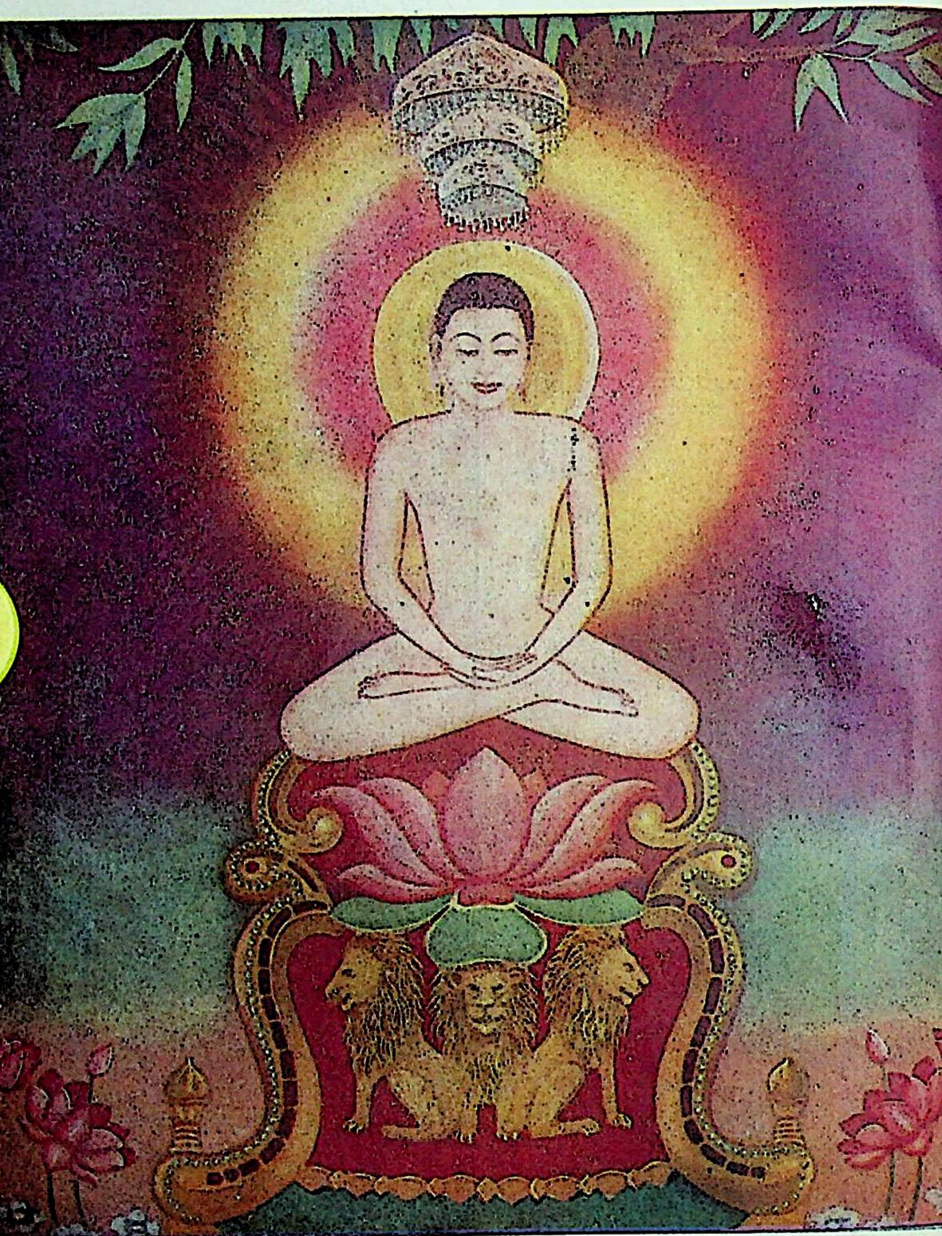
यद्यपि मैंने दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों आम्नायों की वीर–जीवन विषयक घटनाओं का समन्वय करने की चेष्टा की तथापि मैंने भगवान को कुमार तीर्थंङ्कर या बाल-ब्रह्मचारी ही माना है। इसके पीछे मेरे पू० पिता जी (श्री कामता प्रसाद जी) द्वारा प्रणीत 'भगवान् महावीर' पुस्तक का 'युवावस्था और गृहस्थ जीवन' अध्याय की छाप है। मुझे भ० महावीर का यह बाल-ब्रह्मचारी स्वरूप ही सदैव से प्रिय व स्पृहणीय रहा है। हो सकता है कि बाल्यकाल और तपःकाल की घटनाओं के क्रम में या और कहीं मेरे लिखने में कुछ हेर–फेर हो गया हो; लेकिन मैंने प्रायःसभी प्रमुख घटनाओं के समावेश करने की चेष्टा की है। सम्भव है कोई प्रमुख बातें रह भी गई हों जिनके प्रति मेरी दृष्टि ही न गई हो। बहुत सावधानी बरतने पर यह भी हो सकता है कि अज्ञान वश कोई बात अनुचित लिख गई हो। इन सब त्रुटियों के लिए मैं अपने सहृदय पाठकों से क्षमा चाहूँगा तथा उनके सूचित करने पर वे त्रुटियाँ अगले संस्करण में दूर करने का प्रयत्न करूँगा। अब अन्त में मैं अखिल विश्व जैन मिशन का आभार मानता हूँ जिसके द्वारा प्रस्तुत रचना प्रकाश में आरही है। मेरी आ० अग्रजा श्रीमती सरोजनीदेवी जैन ने भी इस पुस्तक की रूप-योजना में सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनको भुला नहीं सकता। ज्ञात या अज्ञात रूप में जिन महानुभावों या जिन स्रोतों से मुझे इस पुस्तक के निर्माण में योग मिला उन सबका मैं आभार मानता हूँ।

समस्त शुभ कामनाओं के साथ।

वीर जयन्ती
१९५९

विनीत्—
वीरेन्द्र

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर



वर्द्धमान !

कवि की वाणी के अलङ्कार, कवि के कवित्व के स्वप्न सुघर।
कवि के गानों के चिर गाने, फिर भी कवि-प्रभा के बाहर ॥


प्रथम खंड
पूर्वाभास



मंगल प्रभात की मधुर मांगलिक वेला ।
पल्लव-दल से सुरभित मलयानिल खेला ॥

छाई प्राची में अलसाई अरुणाई ।
हो गई निशा की अब तो पूर्ण विदाई ॥

हर दिशा हो रही अनुरञ्जित इस क्षण में ।
है बिखर रहा अरुणिम अबीर अम्बर में ॥

खिच रहे उषा की मृदुल तूलिका से अब ।
रमणीय दृश्य निर्झर, नगादि के नीरव ॥

बन गये गगन में इस विधि चित्र सलौने।
हों मूर्तिमान ज्यों नव यौवन के सपने॥

ये मनमोहन-से विविध रूप रँग लाते ।
क्रम-क्रम से स्वर्णिम हुये सभी हैं जाते ॥

लो, नव आशा-सा सूर्य उदित हो आया ।
उत्साह-पुञ्ज-सा किरण-निकर जो लाया॥

हो गया विश्व में स्वर्णिमांशु का प्रसरण ।
अणु-अणु ज्योतित सा हुआ;प्रकृति-प्रमुदित-मन॥

पा स्वर्ण ज्योति, पल्लव हीरे से लगते।
पौधों पर सुन्दर सुमन, नगों-से जड़ते॥

इस भांति रँगीली, कुसुमावलि मुस्काई ।
मृदु कलिकाओं में आई नव तरुणाई ॥

श्यामल भृङ्गों ने भी तो ली अँगड़ाई।
पुष्पों के जग में मधुरिम तान सुनाई॥

हँसते इन्दीवर सर के उर्मिल जल में।
करते गुञ्जन जिन पर मधुकर मस्ती में॥

उड़ता पराग सुरभित समीर है करता।
जो स्वाँस-स्वाँस में नव-जीवन-रस भरता॥

खग-वृन्द फुदकते और चहकते उड़ते।
कुछ कहीं कतारों में जाते, रव करते॥

है कुण्ड-ग्राम में छटा छबीली छाई।
राजोद्यान में रूप-राशि मुस्काई॥

घूमने आ गईं सम्राज्ञी उपवन में।
कुछ सखियों को भी लाईं हैं वे सँग में॥

दूर्वा के कोमल तल पर ये सुन्दरियाँ।
चल रहीं चरण शत-दल धर ज्यों अप्सरियाँ॥

इनके आने से छटा और छवि पाती।
सुन्दरता भी ज्यों इनसे है शरमाती॥

करने उपवन ने निज आभा को दुगुणित।
क्या हिला पात-कर इनको किया निमन्त्रित॥

इनके स्वागत में क्या खग भौंरे गाते।
क्या तुहिन-बिन्दु-कण इनको झलक रिझाते॥

शीतल मलयज भी क्या इनका मन हरने।
चलता भावों सा थिरक-थिरक सुख करने॥

ये घूम रहीं सब ही हर्षित हो मन में।
कर रहीं हास परिहास मुदित जीवन में॥

आ गए इसी क्षण श्री सिद्धार्थ नृपति भी।
हो गया मुदित-सा और मोद तत्क्षण ही॥

उन्नत ललाट नृप का प्रभाव आँखों में।
भव्याकृति शोभित राजकीय वस्त्रों में॥

सम्राट सम्मिलित हुये मनोरञ्जन में ।
सन गया हास-परिहास वचन-अमृत में ॥

बोले नृप, 'छाई आज अनौखी आभा ।
कोई विशेष क्या बात तभी अमिताभा ॥

जी चाह रहा मैं रहूँ, निरखता यह छवि ।
दरबार-समय हो रहा और चढ़ता रवि ॥'

सम्राज्ञी ने भी कहा 'प्रकृति मुखुरित सी ।
मुकुलित सुन्दरता साथ लिए आई सी ॥

है समा रहा अति हर्ष हमारे मन में ।
लगता शुभकर कुछ बात हुई संसृति में ॥

कुछ बातों को है मुझे आपसे कहना ।
दरबार समय हो गया, आपको जाना ॥

मैं अतः बताऊँगी दरबार-भवन में ।
कुछ सपने जो देखे मैंने रजनी में ॥

क्या आप जिनालय से आए हैं हो कर ।
'हाँ, मैं आया जिनमन्दिर से दर्शन कर ॥

हैं सपने देखे तुमने कौन कौन से ।
होती अभिलाषा जानूँ मैं जल्दी से ॥'

'मुझको बतलाने की उत्कण्ठा भी है ।
पर नियत समय दरबार पहुँचना भी है ॥

श्रीमान् चलें दरबार ओर अब सत्वर ।
मैं भी आती सखियों सँग जिनदर्शन कर ॥

'पर... ' कहने को कुछ, रहे मौन नृप मन में ।
चल दिए स्वयम् दरबार दिशा के मग में ॥

उत्कण्ठा-सी छाई सम्राट-वदन पर ।
था रखा नियन्त्रण ने जिसको बन्दी कर ॥

सम्राट गमन के बाद स्वयम् राज्ञी भी ।
चल दीं जिन-मन्दिर साथ लिए सखियाँ भी ॥

है प्रकृति किन्तु अब भी हँसती सी अविरत ।
चढ़ आया दिनकर चटख धूप है प्रसरित ॥

झिलमिल झिलमिल अब तरु-परछाईं होती ।
वह मस्त झकोरे पा कर हिलती-डुलती ॥

है किन्तु और छवि छाई राज-भवन में ।
नर कृत सुन्दरता मूर्त्त हुई है जिसमें ॥

वन्दन-वारों चित्रों से हुआ अलंकृत ।
ताजी सुरभित पुष्पों से भी यह सज्जित ॥

स्वच्छता स्वयम् ज्यों वास यहाँ है करती ।
प्रति वस्तु नियत उपयुक्त स्थान पर रहती ॥

इस राज भवन के वर्हिद्वार पर प्रहरी ।
हैं खड़े कि जिन पर छाई निष्ठा गहरी ॥

हैं सावधान कर्तव्य-कार्य में ये रत ।
क्या कर सकता कोई भी इनको विचलित ॥

लो, लगा अभी दरबार आ गए कुछ जन ।
सुप्रतिष्ठित नागर जो सचमुच ही सज्जन ॥

मन्त्री, सेनापति अन्य कर्मचारी गण ।
आ गए सभी सम्राट सहित धीरज मन ॥

जा पहुँचे सब अपने अपने आसन पर ।
निज रत्न-जटित सिंहासन पर भी नृपवर ॥

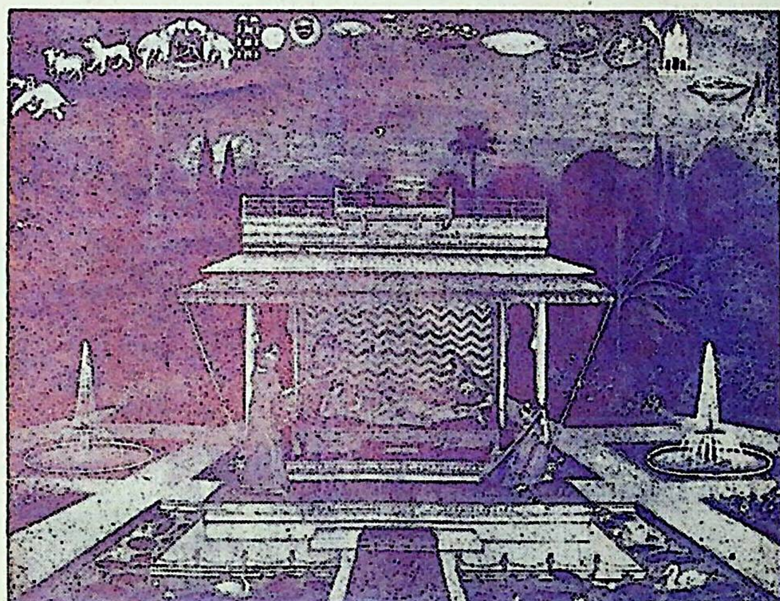
वन्दीजन गाने लगे सुभग विरुदावलि ।
ज्यों गुनन गुनन गुन गाती हो भ्रमरावलि ॥

इनके गाने के बीच वाद्य भी बजते ।
वादित्रों के स्वर रम्य रसीले लगते ॥

इनकी सरगम है परम मनोरम अनुपम ।
सङ्गीत स्वयम् - साकार थिरकता क्रम-क्रम ॥

इस गुण गरिमा गायन के मधुरस क्रम में ।
आ गई स्वयम् साम्राज्ञी राज-भवन में ॥

तीर्थंङ्कर भगवान् महावीर



तीर्थंङ्कर माँ त्रिशला देवी के सोलह स्वप्न

"देखे मैंने कुछ सपने सुख-निद्रा में।"

—त्रिशला



सखियाँ भी अपने साथ साथ वे लाईं ।
मानों अप्सरियाँ स्वयम् शची सँग आईं ॥

वे आईं या आए लक्षण सब श्री के ।
सब खड़े हो गए मान हेतु रानी के ॥

राजा ने भी कर दिया रिक्त अर्द्धासन ।
सब बैठे अब हो रही सभा अति शोभन ॥

सिंहासन पर राजा रानी यों लगते ।
साकार न्याय सुषमा हो कर ज्यों सजते ॥

चल रहा किन्तु विरुदावलि का अविरल क्रम ।
सुन रहे सभी हो मन्त्र मुग्ध जिसमें रम ॥

पर शान्ति हुई जब हुआ अन्त गायन का ।
चल दिया कार्य-क्रम जो निश्चित प्रति दिन का ॥

जब नियत कार्य क्रम अन्त हुआ नृप बोले ।
सम्राज्ञी से उत्सुक अमृत रस घोले ॥

'हे शुभे ! स्वप्न देखे क्या क्या हैं तुमने !
बतलाओ जो हैं सुने नहीं हम सबने ॥

सम्राज्ञी बोलीं 'पिछले प्रहर रात्रि में ।
देखे मैंने सपने कुछ सुख निद्रा में ॥

इनके आशय के ज्ञान हेतु उत्सुक मैं ।'
जागी उत्कण्ठा स्वप्न ज्ञान की सब में ॥

मन्त्री बोले श्रीमान् हमारे नृपवर ।
बतलाएँगे स्वप्नार्थ कहें राज्ञीवर ॥

कारण सुभाग्य से नृप निमित्त ज्ञानी हैं ।
है तीव्र बुद्धि उनकी वे विज्ञानी हैं ॥

सम्राट और सम्राज्ञी कुछ मुस्काए ।
फिर सम्राज्ञी ने अपने स्वप्न सुनाए ॥

वे बोलीं 'देखा सर्व प्रथम गज मैंने ।'
नृप लगे सोच कर उत्तर को यों कहने ॥

'इसका आशय तुम भाग्यवान सुत की माँ ।
होओगी जग में फैलेगी तव गरिमा ॥'

सम्राज्ञी त्रिशला ने आगे बतलाया ।
'देखा वृष जिसकी हृष्ट पुष्ट सित काया ॥'

'होगा तव सुत वह धर्म सुरथ का चालक ।'
यों सोच समझ बोले वे जनता-पालक ॥

रानी बोलीं, 'फिर आया स्वप्न सिंह का ।'
'होगा अनन्त बल पौरुष तव उस सुत का ॥'

'इससे अगला है स्वप्न सुभग लक्ष्मी का ।'
'स्वामी होगा वह सुथिर मोक्ष लक्ष्मी का ॥'

यों बतलाया नृप ने रानी स्वप्नोत्तर ।
सब दिखते थे मन मुदित हुए तदनन्तर ॥

'मैंने देखी सुरभित फूलों को माला ।'
इस भांति कहा रानी ने स्वप्न निराला ॥

नृप उत्तर में बोले 'उस सुभग पुत्र का ।
जग में फैलेगा अविरल सौरभ यश का ॥'

'देखा है मैंने पूर्ण चन्द्र राका में ।'
'वह नष्ट करेगा मोह तिमिर जीवन में ॥'

'फिर इसके बाद सुहाया सपना रवि का ।'
'वह ज्ञानालोक करेगा आशय जिसका ॥'

'तदनन्तर आया युगल मीन का सपना ।'
'लाएगा सुन्दर सौम्य भाग्य वह अपना ॥'

'फिर देखी जोड़ी भरे हुए कलशों की ।'
'वह प्यास बुझाएगा अशान्त तृषितों को ॥'

'पश्चात स्वप्न में आया स्वच्छ सरोवर ।'
'पाएगा सर से सहस्राष्ट लक्षण वर ॥'

सब उत्कण्ठित से स्वप्न अर्थ यों सुनते ।
सम्राट स्वयम् मन अमित मोद से भरते ॥

फिर स्वप्न कथन में हुई अग्रसर रानी।
'देखा लहराता निर्मल सागर पानी॥'

उत्तर में बोले नृप सुज्ञान के धारक।
'तव सुत पयोध-सा होगा शान्त विचारक॥'

'फिर स्वप्न पटल पर दिखा सुभग सिंहासन।'
'वह तीन लोक का पाएगा राज्यासन॥'

'फिर देव यान स्वप्नों में मुझे दिखाया।'
च्यय स्वर्ग लोक से तव सु गर्भ में आया॥'

'तब दिखा नाग प्रासाद स्वप्न में क्रम से।'
'वह पूर्ण त्रिज्ञानी होगा जन्म समय से॥'

'इस स्वप्न शृंखला में सुरत्न अवलोके।'
'इनका आशय शुभ गुण होंगे उस सुत के।'

'स्वप्नों की चित्रपटी पर अन्तिम सपना।
मैंने देखा था प्रचण्डाग्नि का जलना॥'

इसका मतलब नृप ने आखिर बतलाया।
'वह पुत्र करेगा अपनी प्रबल तपस्या॥

कर देगा जिससे भस्म कर्म का ईंधन।
यों प्राप्त करेगा केवल पद अक्षय धन॥'

सब के श्रीमुख से धन्य धन्य ही निकला।
यह धन्य बात है होगा पुत्र निराला॥

यों क्रम क्रम स्वप्नों का आशय सुन मानों।
साकार हर्ष नाचने लगा है जानों॥

कुछ सोच नृपति ने कहा प्रकृति उपवन में।
थी अमित मुदित क्या इस शुभ वृत्त कथन में॥

साम्राज्ञी त्रिशला ने भी कुछ मुस्का कर।
'हाँ' ही जैसे कह दिया मौन भी रह कर॥

तदनन्तर कोई दरबारी थिरता से।
बोला उत्पीड़ित आज धरा हिंसा से॥

श्रीमन् स्वराज्य की सीमा में तो किञ्चित ।
कुछ शान्ति धर्म सा दिख पड़ता है निश्चित ॥

पर लोक हो रहा हिंसा में है आगे ।
भौतिकता-दिशि में लोग जा रहे भागे ॥

पद दलित शान्ति सुख के प्यासे दिखते हैं ।
पर कौन बुझाये प्यास दीन मरते हैं ॥

यह धन्य भाग जो धरती पर आएंगे ।
भावी कुमार निज जो दुख दूर करेंगे ॥

ऐसा ही तो स्वप्नार्थों से भासा है ।
यह ही तो अपनी चिर सञ्चित आशा है ॥

दरबार विसर्जित हुआ किन्तु,
आरम्भ हुई नव अभिलाषा ।
नूतन कुमार मुख-दर्शन की,
जागी सब ही में जिज्ञासा ॥


द्वितीय सर्ग
जन्म-महोत्सव

कुण्ड ग्राम का नगर सौम्य-सा, चहल-पहल से भरा हुआ।
दूर क्षुद्र झगड़ों से है यह, सुभग शान्ति में सना हुआ॥
न्याय मार्ग में निरत नृपति भी, कियत अनीति न करते हैं।
समता के सुन्दर प्राङ्गण में, सब स्वच्छन्द विचरते हैं॥

नागर वृन्द प्राय सज्जन सब, जीवन सरल विताते हैं।
चोर, दस्यु, गुण्डे, दुर्व्यसनी, सुनने में कम आते हैं॥
और उधर भी राज भवन में, सुन्दर जीवन की लय है।
सुलभ सभी सामग्री जिसमें, स्वयम् मोद का आलय है॥

अन्तःपुर में त्रिशला देवी, सुख जीवन यापन करतीं।
उनकी परिचर्या में तत्पर, दासी हैं अनेक रहतीं॥
धीरे-धीरे क्रम-क्रम करके, समय सरकता जाता है।
जो भी क्षण जाता है लेकिन, सौख्य-सृष्टि कर जाता है॥

यों सम्राज्ञी त्रिशला माता, के दिन सुख से वीत रहे।
प्रसव काल आता जाता है, किन्तु न कोई कष्ट सहे॥
ये लक्षण तो वतलाते हैं, वत्स असाधारण कोई।
माँ त्रिशला के होने वाला, क्या इसमें शङ्का कोई॥

त्रिशला माँ की टहल वजातीं, हैं छप्पन कुमारियाँ सब।
भाँति भाँति की चर्चा करके, वे प्रसन्न करतीं हैं सब॥
इस चर्चा के सुन्दर क्रम में, प्रखर वुद्धि सम्राज्ञी की।
दिव्य झलकती ही रहती है, यह विशेषता है उनकी॥

इन चर्चा वार्ताओं में भी, गर्हित बात न है होती।
ज्ञान धर्म के विषयों पर ही, चर्चा परम सरल होती॥

इन वार्ताओं में कुमारियाँ, पहले जिज्ञासा करतीं।
रानी वित्युत्पन्न बुद्धि से, उनका समाधान करतीं॥

कोई पूछा करतीं 'बोलो, प्राणी क्यों नीचा होता?'
झट से रानी कह देतीं हैं, 'भङ्ग प्रतिज्ञा जो करता'॥

कोई जटिल प्रश्न करतीं हैं, 'है जग में ऐसा दिखता—
कोई जन तो मुँह रख कर भी, बोल नहीं किञ्चित सकता'॥

इसका कारण रानीं कहतीं, 'पूर्व जन्म में जो करते —
पर-निन्दा अपनी सु-प्रसंसा, वे प्राणी गूँगे होते॥'

एक प्रश्न के बाद शीघ्र ही, प्रश्न दूसरा है होता।
'बोलो जी किस पाप कर्म से, प्राणी है बहरा होता॥'

रानी त्वरितोत्तर देतीं हैं, 'प्राणीं वे बहरे होते।
जिनको आवश्यकता होती, उनकी बात न जो सुनते॥'

प्रश्न इसीविधि होते रहते, जैसे 'क्यों डूँड़े होते?'
रानीं कहतीं – 'पूर्व-जन्म में, दान न जो किञ्चित देते॥'

इसी भाँति ही अन्य कुमारी, पूँछ बैठतीं हैं ऐसे।
'बोलो माँ श्री कौन पाप से, होते कुछ जन लँगड़े-से?'

सम्राज्ञी कहतीं मृदुता से, 'सुनों सहेली मम सुन्दर।
यह तो बात तनिक-सी ही है, भाव नहीं कोई गुरुतर॥

जो पशुओं को अधिक लादते, और कष्ट उनको देते।
वे दुर्जीव समय पा कर ही, हैं लूले लँगड़े होते॥'

उत्तर सुन-सुन सब कुमारियाँ, हैं आश्चर्य-चकित होतीं।
लेकिन मन की जिज्ञासा को, पूर्ण शान्त वे हैं करतीं॥

रानी उत्तर देतीं या ज्यों, स्वयम् बुद्धि साकार हुई।
उत्तर दे जाती चुपके से, क्या विचित्र यह बात हुई!

या मेधावी वत्स गर्भ में, अतः बुद्धि अति प्रखर हुई।
चाहे कुछ भी हो कारण, पर माँ श्री की मति दिव्य हुई॥

ऐसे ज्यों-ज्यों दिवस बीतते, सुख-आह्लाद-बृद्धि होती ।
जीवन की इस सुन्दर गति में, अति प्रसन्नता है होती ॥

वत्स-जन्म का समय आ गया, पर कष्टों का नाम न है ।
सब में हर्ष समाया जाता, दुख-विषाद का काम न है ॥

केवल अति सुख राज-भवन में, हो — ऐसी ही बात नहीं ।
निखिल नगर सम्पन्न हो रहा, दिखता है यह सभी कहीं ॥

शुभ प्रभात मध्याह्न समय में, ऐसा लगता है जानों ।
रत्न-राशि बरसाया करता, है कुबेर ही सच मानों ॥

अब पुर में समृद्धि थिरकती, कोई दीन न दिखता है ।
सब ही हैं सम्पन्न हुए ज्यों, कोई क्षुधित न मरता है ॥

यों समृद्धि-प्रसार सहित ही, समय मन्द-सा थिरक रहा ।
'चैत्र शुक्ल तेरस' के दिन का, शुभकर हो आगमन रहा ॥

विमल रुपहली चन्द्रकला भी, क्या हँस कर शशि से कहती ।
'प्रियतम ! तुमसे सुभग चन्द्र यह, पाने वाली है धरती ॥'

'हाँ प्रिय ! ठीक-ठीक कहतीं तुम, यह अपना सुभाग्य होगा ।'
बोला वह, 'भू-शशि दर्शन का, शुभ सुयोग अपना होगा ॥'

उधर नगर की निकटवर्तिनी, प्रकृति सलौनी है हँसती ।
लगता कोई बात निराली, होने को क्या यह कहती !

धीरे-धीरे प्राची-पट पर, अरुणिम ऊषा मुस्काई ।
अनुपम अरुणोदय हो निकला, तरुण दिव्य आभा आई ॥

चिर आह्लाद आज ऊषा में, चरम-बिन्दु सुन्दरता का ।
लो, क्या हो निकला मृदु कम्पन, उसके लाल कपोलों का ॥

उसके अरुण अधर हिल निकले, बोल उठी वह क्या मानों ।
'मेरे दिनकर ! आज तुम्हारे, साथ उदय होगा जानों ॥

पृथ्वी पर 'जाज्वल्यमान रवि' ज्ञानालोक दिव्य जिसका ।
ध्वस्त करेगा निखिल विश्व में, घन प्रसार मिथ्या-तम का ॥'

लो, इस शुभ दिन, शुभ वेला में, 'त्रिशला-सुत' का जन्म हुआ ।
तीन लोक में मङ्गल छाया, पुण्य-पुञ्ज अवतरित हुआ ॥

कहते नर्क-लोक में भी तो, प्रगट हुई क्षण-भर साता ।
भूतल की क्या, देवलोक में, जन्म-महोत्सव था होता ॥

उधर बज उठी भुवन-वासियों, देवों की सुन्दर भेरी ।
व्यन्तर देव-मृदङ्गों की भी, हुई न बजने में देरी ॥

घनन घनन घन, घनन घनन घन, टनन टनन टन, टन टन टन ।
कल्पवासियों के घण्ट भी, बाज उठे थे यों क्षण-क्षण ॥

छन छन छन छन, छनन छनन छन, नाच उठीं कुछ अप्सरियाँ ।
उनकी रुन-भुन, नूपुर ध्वनि सुन, गान गा उठीं किन्नरियाँ ॥

सारा नभ प्रतिध्वनित हो उठा, 'जय-जय' मङ्गल नादों से ।
मृदु सङ्गीत सुरीले स्वर भी, निकल रहे सुर-वाद्यों से ॥

और उधर सौधर्म इन्द्र का, हुआ प्रकम्पित सिंहासन ।
लगा सोचने अवधिज्ञान से, कम्पित होने का कारण ॥

भासा सहसा ऐसा उसको, वसुधा के शुभ वक्षस पर ।
अपने पुण्यों को सञ्चित कर, हुए अवतरित तीर्थंकर ॥

सीमा लाँघा अमित मोद भी, हर्षातिरेक-सा उसे हुआ ।
क्षणभर की भी देर न कर के, चलने को तैय्यार हुआ ॥

आ पहुँचा वह कुण्डग्राम की, सीमा में ले निज परिकर ।
त्रिशला-सुत के जन्म-स्थान पर, शची साथ पहुँचा सत्वर ॥

देखा जब नवजात-पुत्र तो, तृप्त न इन्द्र हुआ स्वर्गिम ।
शिशु कमनीय रूप लखने को, किए सहस्र नेत्र कृत्रिम ॥

तृप्त न फिर भी निर्निमेष वह, रहा निरखता छवि अनुपम ।
शेष रही फिर भी नेत्रेच्छा, शिशु-सजीवता यह अनुपम ॥

किन्तु अन्त में मायामय-सी, निद्रा में कर त्रिशला को ।
की नियुक्त कुछ सुर-बालाएँ, माँ श्री की परिचर्या को ॥

फिर निर्मित कर शिशु स्वरूप-सा, एक वत्स मायावी जो ।
उठा लिया नव वत्स शची ने, लिटा दिया शिशु कृत्रिम को ॥

क्यों कि इन्द्र को न्हवन-हेतु था, 'शिशु' सुमेरु तक ले जाना ।
इस अन्तर में अतः किसी को, पड़े न सुत-वियोग सहना ॥

ऐरावत गज पर शिशु सँग ले, सुभग इन्द्र ने गमन किया ।
अगणित देवों ने भी उसका, मोद सहित अनुसरण किया ॥

गाजे-बाजे साथ-साथ ही, नृत्य-गान होते जाते ।
पुष्प-वृष्टि अम्बर-पथ में भी, 'जय-जय' स्वर करते जाते ॥

जब पहुँचे सुमेरु पर, सुत को, स्फटिक शिला पर बिठलाया ।
क्षीरोदधि से कञ्चन-कलशों, में सुनीर फिर मँगवाया ॥

हाथों ही हाथों देवों ने, जल ला कर अभिषेक किया ।
शिशु के सस्मित मुख-मण्डल पर, दिव्य कान्ति ने जन्म लिया ॥

धन्य भाग्य जो तीर्थंकर सुत, के दर्शन का योग मिला ।
संस्तुति-गान-स्नान करने का, देवों को शुभ समय मिला ॥

और धन्य ये त्रिशला-सुत जो, इनकी सेवा सुर करते ।
पूर्व उपार्जित सद्कृत्यों के, फल ऐसे ही हैं मिलते ॥

यों अभिषेक आदि कर के सुर, कुण्डग्राम की ओर चले ।
तीर्थंकर शिशु साथ लिए वे, मोद मनाते हुए चले ॥

नृत्य गान वादित्रों की लय, लहर रही जल-लहरों-सी ॥
उत्सव का आह्लाद समाया, देवों की सुस्थिति ऐसी ॥

ले आया सौधर्म इन्द्र फिर, वत्स निकट माँ त्रिशला के ।
पूर्ण देव-कृत, जान न पाए, मात-पिता, कुछ जन घर के ॥

मायावी पुतले को तब फिर, इन्द्र-शची ने नष्ट किया ।
उसकी जगह शीघ्र त्रिशला-सुत, को स्वाभाविक लिटा दिया ॥

सम्राज्ञी माँ त्रिशला की अब, निद्रा का भी अन्त हुआ ।
और तभी ही कुछ सु-योग से, नृपवर का आगमन हुआ ॥

देवों ने तब मात-पिता का, मङ्गलमय यश-गान किया ।
तीर्थंकर सुत के होने का, यों शुभकर सन्देश दिया ॥

दे कर के फिर हर्ष बधाई, कर के शत वन्दन शिशु के ।
गए स्वर्ग को देव सभी फिर, मोद भरा मन में उनके ॥

और इधर भी निखिल नगर में, जन्मोत्सव की धूम हुई ।
केवल राज-भवन में ही क्या, घर घर में सुख-सृष्टि हुई ॥

जन्म बधाई गीत गा रहीं, घर-घर महिलाएं मिलकर ।
ढोलक बजती जाती होते, साथ मजीरों के मृदु-स्वर ॥

राज-भवन में आज हर्ष का, छोर नहीं है कुछ दिखता ।
राजकीय बाजे बजते हैं, मधुरिम नृत्य गान होता ॥

केशरिया ध्वज फहर-फहर कर, लहर रहे छत के ऊपर ।
तोरण बन्दनवार बँध रहे, राज-महल के द्वारों पर ॥

उधर नाट्य शालाओं में भी, नाटक हैं खेले जाते ।
चार चाँद उत्सव शोभा में, सुभग लगाए हैं जाते ॥

जन्मोत्सव-समयोपलक्ष में, खुलीं दान की शालाएँ ।
निशि दिन दान जहाँ बटता है, रिक्त न लौट व्यक्ति जाएँ ।

दश दिन तक यों हुआ महोत्सव, हर्ष ज्योति अविरत जागी ।
गया निराशा अन्धकार भी, निविड क्लेश-रजनी भागी ॥

राज-ज्योतिषी ने ज्योतिष से, योग लगा कर बतलाया ।
उत्तर फाल्गुणी नक्षत्र में, जन्म पुत्र ने है पाया ॥

इसके जन्म समय से ही है, सब चीजों की वृद्धि हुई ।
अतः राज-सुत 'वर्द्धमान' ही, होगा इसका नाम सही ॥

पुर का चर्चा-विषय बन रहा, जन्म-वृत्त त्रिशला-सुत का ।
कोई कहता 'देवों ने भी, शुभाभिषेक किया इनका ॥'

कोई कहता, 'जो भी हो पर शुभ लक्षण हैं बालक के ।
जब से जन्म हुआ तब से ही, बढ़ती है होती सबके ॥

काश ! इसी से 'वर्द्धमान' हैं, नाम रखा इनका सुन्दर ।
यथा नाम चरितार्थ हो गया, यह शिशु की महिमा गुरुतर ॥

जबसे जन्मा शिशु तबसे ही, कोई दुखद न बात हुई ।
शुभकर शकुन दिखाई पड़ते, होतीं बातें नई नई ॥'

उधर वनों में प्रकृति सजीली, देखो तो हँसती-सी है ।
क्या शिशु जन्म-प्रभाव प्रबल से, उसकी छवि बासन्ती है ॥

पीत-हरित कुछ विविध रङ्ग के, हैं दुकूल उसने धारे ।
पुष्पों के मुख से मुस्काती, हर्ष-प्रदर्शन ढँग न्यारे ॥

कुञ्जों के अवगुण्ठन से क्या, इठलाती-सी पेख रही ।
जन्मोत्सव की शोभा को, स्पृहा-भाव से देख रही ॥

वह भी तो मधुकर-गुञ्जन मिस, जन्म बधाए गाती है ।
ढोलित पात सरर-सर निर्झर, नद-स्वर तान सुनाती है ॥

और उधर अब राज-भवन में, जहाँ कि माँ त्रिशला रहतीं ।
अगणित सखियाँ परिचर्या में, उनकी सदा लगीं रहतीं ॥

मन-हर सुत को मैं ले पाऊँ, तनिक खिला पाऊँ उसको ।
सब प्रयत्न ऐसा करतीं हैं, हर्षित करतीं माँ श्री को ॥

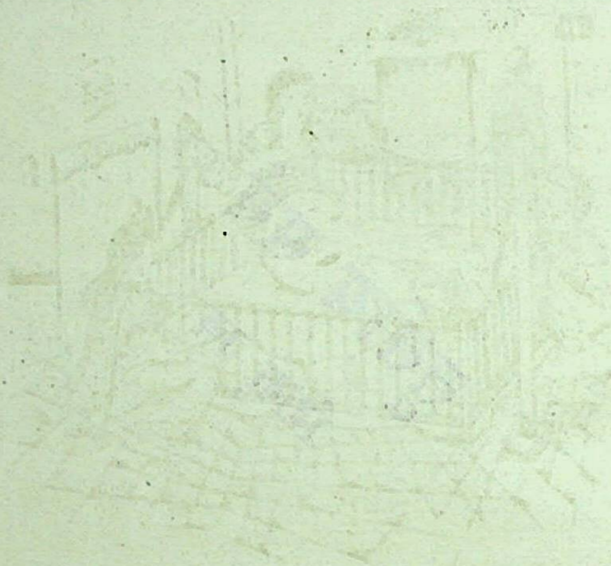
माँ त्रिशला भी गोद लिए शिशु, अमित मोद मन में भरतीं ।
तन-मन भोले सस्मित शिशु पर, निशिदिन न्योछावर करतीं ॥

वत्स की माँ ले रहीं हैं;
मृदु वलैयाँ बार-बार ।
धन्य उनका मातृ-पद है;
सौम्य-सा शिशु होनहार ॥




द्वितीय सर्ग
शिशु, वय





द्वितिया राका-पति से अब, शिशु 'वर्द्धमान' बढ़ते हैं ।
छवि किन्तु कलाधर से भी, अपनी अनन्त रखते हैं ॥

वे अभी किन्तु नन्हें-से, मुन्ना भोले-से लगते ।
हैं बोल नहीं पाते पर, 'आ-आ, आ-आ' स्वर करते ॥

उनके 'आ-आ' स्वर में भी; मधुरिम सङ्गीत निखरता ॥
सुनने के लिए सभी का, क्षण में जमघट-सा लगता ॥

वे बीच-बीच मुस्काते, जैसे कि फूल झड़ पड़ते ।
रद-रहित वदन पर उनके, स्मित लख सब जन हँसते ॥

झालर-मय मणियों वाले, लेटते पालने में वे ।
धीरे-धीरे से झूँके, पा कर झट सो जाते वे ॥

जब सोते हैं तब उनकी, मुख-मुद्रा को सब लखते ।
उनके अङ्गों की उपमा, ललितोपमान से करते ॥

कोई कहता, 'देखो तो, अब रूप शयन करता है ।'
उसके ऊपर भी तो अब, मृदु हास हास हँसता है ॥

मुख-मण्डल तो बिल्कुल ही, शशि की समता है रखता ।
भौं पलक श्याम दर्शातीं, मुख चन्द्र बीच श्यामलता ॥

'पर अरुण अधर से मुख तो' झट बोली एक सहेली ।
'लगता है बाल भानु-सा, तू समझ न इसे पहेली ॥

हैं जिसकी धवल ज्योति से, तम केश भागते पीछे ।
फिर भला नहीं रवि तो क्या, कोई हमसे तो पूँछे ॥'

'जी नहीं, एक उपमा तो, मन उमड़ रही मेरे है ।
मुन्ना शरीर-सरवर में, मृदु-मुख अरविन्द खिला है ॥

यह प्रफुलित पूर्ण कमल-सा, जो अरुण सुरभि-मय जैसे ।
युग श्रवण पात-से लगते, तम केश भृङ्ग-माला-से ॥'

इस पर कोई सखि इठला, इठलाकर कुछ यों बोली ।
'हैं नवल कमल से कोमल, तो इनके कर-पग-तलही ॥

मुख तो अरुणोदय लगता, कुछ छटा अरुण-सी रखता ।
जिसको लख अपने उर का, मीलित-इन्दीवर खिलता ॥'

इतने में बोलीं माँ श्री, कुछ मन ही मन मुस्कातीं ।
'जब है उपमेय हृदय-हर, उपमाएँ अगणित आतीं ॥

मैं तो इतना कह सकती, नन्हा-सा मुन्ना अपना ।
उसके मिस ज्यों हम सबको, साकार हुआ सुख-सपना ॥'

ऐसे सुख-चर्चा-क्रम में, सम्राट स्वयम् आ जाते ।
वे भी शामिल हो प्रमुदित, हैं स्वाद अनोखा पाते ॥

सोते ही वर्द्धमान शिशु, हैं तनिक मुस्करा देते ।
तो व्यङ्ग-सहित रानी से, कुछ कहते नृप मुस्काते ॥

'है सहज विमाता देखो, यह खिला रही तव सुत अब ।
तुम खिला नहीं पाती हो, क्या पुत्र नहीं है यह तव ॥

अथवा रूठा है तुमसे, वह मुदित खेलता उससे ।
क्या बात हुई है ऐसी, जो नहीं खेलता तुमसे ?'

'जैसे कि आप आप हैं, वैसे ये लक्षण होते ।
मैं क्या जानूँ कि कौन-सा, जादू श्रीमन् हैं करते ?

क्या आप मातृ-पद मेरा, हैं सहज चाहते लेना ?
पर व्यर्थ आपका यह सब, मेरा मुन्ना है अपना ॥

वह जब कि जागता है तब, खेला करता है मुझसे ।
तब स्वयम् आप आ जाते, 'आ-आ' सुनने को जैसे ॥

सन्निकट आपके रहता, व्यङ्गों का भरा पिटारा ।
पर मुझे न झेंपा सकता, वह स्वयम् पूर्ण बेचारा ॥'

रानी उत्तर सुन नृप का, फिर भला प्रश्न यह होता।
'तब कौन व्यक्ति सोते में,' मुन्ने को कहो हँसाता?

क्यों आप बन रहे भोले, ज्ञानी हो कर भी कहते।
सोते में कौन खिलाता, मुन्ने को हँसते-हँसते?

प्रतिफलित हो रहा शिशु के, सञ्चित कर्मों का लेखा।
जो हमने सौम्य वदन पर, देखी सु-हास की रेखा॥

सम्राट स्वयम् मुस्काए, उत्तर सुन सम्राज्ञी का।
स्वीकार कर लिया जैसे, यह कथन नृपति ने उनका॥

इतने में मुन्ने ने झट, सोते में करवट बदली।
माँ बोलीं— 'जाग रहा शिशु सुन कर के अपनी बोली॥

उसकी निद्रा में बाधा, पड़ रही अतः मत करिए।
कोई भी वार्ताएँ अब, कुछ शान्त हुए-से रहिए॥'

सब हुए मौन ही सहसा, रुक गया बात का कहना।
पर खला सभी को उस क्षण, मुन्ना-समीप चुप रहना॥

क्षण एक न लेकिन बीता, मुन्ना ने खोलीं आँखें।
लग रहीं मनोहर कैसी, उनकी कुछ श्यमल पाँखें॥

प्यारे नयनों से छवि, झीनी जीवन्त झलकती।
जिसको लखने को निशदिन, ये आँखें सदा तरसतीं॥

हैं धन्य भाग्य रानी नृप, सखियों भृत्यों पुरजन के।
हाँ, किए जिन्होंने होंगे, दर्शन त्रिशला-नन्दन के॥

जगने पर सुत के सब जन, बातें हैं उनसे करते।
वे बोल न कुछ भी पाते, पर बीच-बीच मुस्काते॥

उनके मुस्काने पर ही, सब उन पर बलि बलि जाते।
करते प्रसन्न सबको यों, शिशु वर्द्धमान हैं बढ़ते॥

जब रात पड़े पर भी है, शिशु को न नींद कुछ आती।
सो जा मुन्ना तू सो जा, माँ लोरी ललित सुनातीं॥

लोरी को सुनते-सुनते, वे सो जाया हैं करते।
तो मात-पिता कुछ चर्चा, उन पर ही करते सोते॥

रजनी में सोते-सोते, जब वे हैं जाग बैठते ।
तो घण्टों जगमग जगमग, हैं दीप जोहते रहते ॥

शुभ जगर-मगर दीपक सँग, उनकी यह क्रीड़ा मनहर ।
देखा करते हैं नृप भी, अपनी निद्रा को खोकर ॥

उनका प्रसन्न चित रहता, रोते न कभी हैं दिखते ।
क्या इसी लिए उन पर हैं, निशिदिन दुलार सब करते ॥

शुभ प्रातकाल नर-नारी, उनका मुख लखने आते ।
कहते वे इससे उनके, सब कार्य सिद्ध हो जाते ॥

मङ्गलमय मङ्गलकारक, शिशु का मञ्जुल मधुरानन ।
यह स्वयम् शकुन ही जैसे, सर्जक संसृति-सुख-कानन ॥

धीरे धीरे वे बढ़ते, मानों कुछ ऐसा लगता ।
जैसे विहान-वेला में, क्रम-क्रम प्रकाश हो बढ़ता ॥

दो-तीन मास ही बीते, लेकिन वे घुटनों के भर ।
चलने की कोशिश करते, शिशु वय में अमित शक्तिवर ॥

वे अब कलवल कलवल कर, बातें भी करने लगते ।
अपने नन्हें हाथों से, कुछ संकेतों को करते ॥

जव सुभग महल-आँगन में, वे कुछ कुछ सरका करते ।
तब मात-पिता कुछ गृह-जन, टुक झुक उनका श्रम लखते ॥

उनके सस्मित मुख-विधु के, भामण्डल पर छवि बसती ।
निर्द्वन्द-भाव में कैसी, सुन्दर निरीहता हँसती ॥

सब उनको गोदी लेते, पर वे तो भूमि ओर ही ।
जाने की कोशिश करते, दिखती उनकी यह रुचि ही ॥

पृथ्वी पर लोट-लोट कर, घुटनों वे चलने लगते ।
मंजुल प्रसन्न आनन से, दो दाँत हृदय-हर दिखते ॥

मानों कि अधर अम्बुधि से, युग-रद के रत्न निकलते ।
लख जिन्हें मात-पित गृह-जन, हैं फूले नहीं समाते ॥

बढ़ते शिशु वर्द्धमान कुछ, अब स्वयम् बैठ जाते हैं ।
घुटनों के बल तो वे अब, अति छिप्र चाल चलते हैं ॥

माँ त्रिशला उनकी गति को, लख कर प्रसन्न होने को ।
कुछ दूर-दूर जा कर के, वे प्रायः बुलातीं उनको ॥

'आ-आ, माँ-माँ' कुछ करते, माँ निकट शीघ्र वे जाते ।
इतने में वे हट जातीं, ज्यों ही माँ निकट पहुँचते ॥

वे शीघ्र वहाँ से मुड़ कर, माँ ओर दौड़ हैं भरते ।
घण्टों ही यों वे माँ-सँग, हैं खेल खेलते रहते ॥

जब बहुत देर हो जाती, वे तनिक खीझने लगते ।
लेकिन न नेक भी रुकते, माँ को वे छूते फिरते ॥

माँ त्रिशला थका जान कर, हैं उन्हें गोद में लेतीं ।
वे अति दुलार से उनको, पुचकार सहज ही लेतीं ॥

सारा वैभव ही उनका, इस पर न्योछावर होता ।
क्या तीन लोक का कोई, सुख इससे समता रखता ॥

शिशु वर्द्धमान छोटे ही, घुटनों ही अभी सरकते ।
पर अपनी सीमा में ही, वे सभी यत्न हैं करते ॥

उनके मग में जब भी है, ऊँची दहरी आ जाती ।
तब उसे पार करने की, उनको कोशिश है होती ॥

माँ त्रिशला नृपति अन्य जन, आ कर सुत चेष्टा लखते ।
देखते-देखते शिशु को, दूसरी ओर हैं पाते ॥

शिशु वर्द्धमान जब इस विधि, निज कार्य सिद्ध कर लेते ।
ताली निज लघु हाथों से, तब बजा-बजा कर हँसते ॥

इस पर सहसा ही कुछ जन, लोकोक्ति सुभग दुहराते ।
होने वाले 'बिरवा' के, 'चीकने पात' हैं होते ॥

नृप-सम्राज्ञी के मुख पर, कुछ स्वभिमान की रेखा ।
ऐसे समयों पर ही तो, सब जन करते हैं देखा ॥

त्रिशला-सुत कभी शून्य में, देखा करते इकटक हो ।
जैसे गंभीर भाव से, करते कोई चिन्तन हों ॥

शिशु वय में महा दार्शनिक, जैसे योगी ही लगते ।
उन्नत ललाट पर उनके, कुछ रेखा-चिह्न झलकते ॥

इस दिव्य भाल पर उनके, है लगा दिया चुपके से ।
माँ श्री ने काजल तिरछा, लग जाए 'नजर' न जिससे ॥

यह कज्जल-बिन्दु सोहता, उनके मुख पर है ऐसे ।
शुभ उर्मिल जल में हँसता, मृदु नील कमल हो जैसे ॥

वे धीरे-धीरे बढ़ कर, अब उठने स्वयम् लगे हैं ।
पर डगमग-डगमग हिलते, वे स्वयम् खड़े होते हैं ॥

उठ कर नन्हें हाथों से, वे ताली खूब बजाते ।
खिलखिला हास वे करके, सबको निहाल कर देते ॥

माँ या नृप-हाथ पकड़ वे, हर्षित स्व अजिर में चलते ।
या कभी स्वतः भी चलने, का साहस करने लगते ॥

दो पग ज्यों ही वे चलते, वैसे ही हैं गिर पड़ते ।
पर नहीं हार ले कर के, कुछ बैठे ही वे रहते ॥

वे पुनः खड़े हो कर हैं, चलने का यत्न सँजोते ।
क्रम-क्रम चलने में यों ही, वे पारंगत हैं होते ॥

यों लख कर शिशु की दृढ़ता, आश्चर्य चकित सब होते ।
सब के भी चकित वदन लख, शिशु वर्द्धमान मुस्काते ॥

उनके ही मुस्काते सब खिलखिला हास हैं करते ।
जैसे दिनकर को लख कर, अनगिन सरसिज हों खिलते ॥

सम्राट वत्स को प्रायः हैं राज-भवन में लाते ।
दरवारी शिशु-दर्शन कर, चिर आशा सफल बनाते ॥

शिशु वर्द्धमान छोटे हैं, पर शिष्टाचार उन्हें है ।
माँ त्रिशला की शिक्षा से, सम्भाषण-ज्ञान उन्हें है ॥

समुचित सम्भाषण करते, सुत को जब नृप पाते हैं ।
तो मन ही मन वे सचमुच, अति तोष-हर्ष करते हैं ॥

शिशु वर्द्धमान भोले-से, इकटक प्रति वस्तु देखते ।
उनमें जिज्ञासा रहती, ऐसा सब अनुभव करते ॥

है उन्हें कभी कोई भी, ले जाता पुर-मार्गों से ।
तो उनका मन मोहक मुख, सब लखते उत्कण्ठा से ॥

महिलाएँ शीघ्र झरोखों, छज्जों द्वारों पर आतीं ।
लख सस्मित शिशु को वे सब, निज जीवन सफल बनातीं ॥

यों राज कुमार स्वयम् भी, घूमते हर्ष हैं करते ।
वे नगर हाट उद्यानों, को देख मोद मन भरते ॥

पर जब तक माँ त्रिशला से, वे विलग रहा करते हैं ।
तब तक विह्वलता में क्षण, हैं उन्हें बिताने पड़ते ॥

वे बाट जोहतीं रहतीं, अन्यत्र न मन रमता है ।
माँ की कितनी कोमलतम, होती अभिन्न ममता है ॥

वे यों एकाकीपन में, सुत-स्मृतियाँ सुभग सँजोतीं ।
जिनमें निमग्न हो कर वे, अपना हैं समय वितातीं ॥

दासी को कभी बुला कर, उससे हैं बातें करतीं ।
इन बातों में भी तो वे, सुत चर्चा ही हैं रखतीं ॥

वे कभी द्वार पर आहट, सुन दासी तुरत भेजतीं ।
शिशु आया हुआ न पा कर, कुछ खीझ-खीझ यों कहतीं ॥

जाने कब तक आएगा, प्यारा-सा मुन्ना अपना ।
मैं कहीं न जाने दूँगी, उसको निश्चय यह अपना ॥

हो जाय कहीं यदि कुछ भी, अपने मुन्ने को बोलो ।
मैं क्या फिर समझ रहूँगी, मम हृदय-दशा तो तोलो ॥

दासी कहतीं कि आप हैं, यह व्यर्थ सोचतीं सब कुछ ।
मुन्ना का भाग्य बड़ा है, उसका होगा न तनिक कुछ ॥

फिर आहट पा कर माँ श्री, हैं स्वयम् द्वार तक जातीं ।
अपना मन लिए हुए सीं, पा शिशु न लौट वे आतीं ॥

फिर स्वयम् उसे पाने को, चलने को उद्यत होतीं ।
इतने में मुन्ना आता, वे अमित मोद मन करतीं ॥

जब मुन्ना आ जाता है, तो मानों माँ त्रिशला के ।
साक्षात रूप आ जाते, उनके मानस-प्राणों के ॥

वे दृक निहाल हो जातीं, मुन्ने को गोद उठा कर ।
मुन्ना भी मातृ-अङ्क में, हँसता है हर्षित हो कर ॥

जब कभी कभी माँ त्रिशला, दर्पण ले चोटी करतीं ।
तो वे अपने सुत को तब, कुछ उलझा उसमें पातीं ॥

वे निज प्रतिबिम्ब देख कर, मन में अति प्रमुदित होते ।
उसको छूने को सहसा, हैं वे निज हाथ बढ़ाते ॥

इस पर माँ और उपस्थित, जन अट्टहास-सा करते ।
शिशु भी अपनी मस्ती में, खिलखिला खूब हैं हँसते ॥

बचपन की कैसी मस्ती, कोई छल-छन्द नहीं है ।
जीवन का परम सरलतम, सात्विक आनन्द यही है ॥

धीरे-धीरे यों करके, हैं दिवस बीतते जाते ।
त्यों-त्यों त्रिशला-नन्दन भी, क्रम-क्रम हैं बढ़ते जाते ॥

अब बात चीत भी प्रायः, वे करने खूब लगे हैं ।
उनकी बातों के रस में, सब जन भी खूब पगे हैं ॥

वे अन्य मनस्क कभी जब, रहते, कोई चुपके से ।
ले उनके शिरस्त्राण को, दुबका देता धीरे से ॥

वे शीघ्र समझ जाते सब, कहते 'मम शिरस्त्राण क्यों ?
है उठा लिया जी तुमने, कुछ समझ न पाया मैं ज्यों ?'

वह व्यक्ति कि जिसने उनका, था शिरस्त्राण दुबकाया ।
बोला—'क्यों लेता उसको, होगा कौवा ले धाया ॥'

इस पर शिशु वर्द्धमान कुछ, उठकर निज शिरस्त्राण ले ।
फिर कहते हैं वे उससे, 'क्यों व्यर्थ झूठ थे बोले ?'

उनकी यह सजग सुचेष्टा, लख नृपवर कुछ यों कहते ।
'निज वत्स कुशलतम शासक, होगा ये लक्षण दिखते ॥'

शिशु वर्द्धमान के कारण, हर्षातिरेक-सा रहता ।
त्रिशला-गृह के आँगन में, ज्यों चाँद खेलता फिरता ॥

उनकी कुछ बाल सुलभ-सी, चेष्टाएँ मन हर लेतीं ।
जिनमें कुशाग्र मति उनकी, है नया रङ्ग भर देती ॥

ज्यों कजरारे सावन के, अति सघन मेघ-प्रसरण में ।
द्युति चमक-दमक कर जैसे, भर देती आभा उसमें ॥

अथवा पावस सन्ध्या में, कुछ हल्के बादल-पट पर ।
सतरङ्गी इन्द्रधनुष-छवि, करती शोभा सुन्दरतर ॥

इन राजकुमार सन्निकट, हैं बहुत खिलौने रहते ।
पर वे तो उन्हें स्वयम् हीं, निर्मित कर खेल रचाते ॥

ज्यों कभी वस्त्र की दशियें, झण्डियाँ बनाया करते ।
फिर उन्हें पंक्ति में फहरा, हैं गान सुरीला गाते ॥

शिशु कभी पुष्प-पत्तों को, पा कर हैं हर्ष मनाते ।
फिर बड़े चाव से उनके, गुलदस्ते हार बनाते ॥

इस अल्प आयु में भी तो, उनकी शुभ हस्तकला है ।
जिसमें भी राशि-राशि ज्यों, अनुपम सौन्दर्य भरा है ॥

राजा-रानी यह लख सब, हैं फूले नहीं समाते ।
निज सुत-सा बालक पाकर, निज भाग्य सराहा करते ॥

वे शिशु के जुग-जुग जीने, की आश सँजोते रहते ।
इसविधि अपना वे जीवन, शुभ सरस सरलतम करते ॥

जब रात हुए सुत माँ-सँग, लेटा करते शैया पर ।
तो माँ जी उन्हें सुनातीं, कुछ लघु कहानियाँ सुन्दर ॥

जब वे कहतीं—'था राजा, थी रानी एक नगर में ।'
तो झट कुमार कह देते, कुछ सुरुचि साथ उत्तर में ॥

'मैं सुनना नहीं चाहता, राजा-रानी की गाथा ।
इनके सुनने में तो है, कुछ व्यर्थ पचाना माथा ॥

मुझको तो भली लगी थी, उस दिन की क्षमा-कहानी ।
जिससे कि पार्श्वस्वामी के, जीवन की झाँकी जानी ॥

अब उसी भाँति की कोई, माँ कह दो सत्य कहानी ।
मत कभी सुनाओ मुझको, राजा था या थी रानी ॥'

रानी फिर बोलीं—'बेटा ! जो तुमको अच्छी लगती ।
वैसी ही कोई गाथा, मैं तुमको अभी सुनाती ॥

श्री ऋषभदेव-जीवन की, सुस्मृति रेखाएँ जो थीं ।
अब उनको निज शब्दों में, कर रहीं सुभग चित्रित थीं ॥

जिनमें आकर्षित हो कर, शिशु मग्न हुए-से सुनते ।
यह देख कहानी क्रम भी, नृप शामिल हो रस लेते ॥

निज शिशु की कुछ ऐसी ही, गाथाओं में रुचि लखकर ।
सम्राट सोचते होगा, यह ऋषभ-पार्श्व-सा नरवर ॥

यों सुत-चिन्तन में नृपवर, सो जाते शान्त भाव से ।
माँ-पुत्र नींद में भी आ, सोजाते हैं धीरे से ॥

शुभतर प्रभात बेला में, पौ फटते ही जब हैं खग ।
माङ्गलिक प्रभाती गाते, त्रिशला कहतीं—'मुन्ना जग' ॥

माँ का मुन्ना जब जगता, तो नित्य नियमवत् करता ।
परमेष्टि सिद्ध को वन्दन, यों विनय भाव दर्शाता ॥

अन्तर आशीष-पिता माँ, अति रीझ-रीझ कर देते ।
शिशु वर्द्धमान मुख पर भी, आनन्द-चिह्न हैं दिखते ॥

हँसते-हँसते जीवन क्रम, सानन्द बीतता सस्मित ।
प्रति खेल बात में भी तो, पड़ रहीं आदतें संस्कृत ॥

शिशु वर्द्धमान शैशव के, कृत्यों से प्रति मन-रञ्जन ।
हैं सदा किया करते वे, बरसाते मोद भरा घन ॥

आए दिन वे तो कोई, अभिनव-सा दृश्य दिखाते ।
वे बना कूप-तरु-रोसें, आँगन में बाग लगाते ॥

अथवा ले कर वे लकड़ी, हैं घोड़ा उसे बनाते ।
फिर चारों ओर छिप्रतम, हैं दौड़ दौड़ दौड़ाते ॥

वर्द्धमान की बाल सुलभ ये;
शुभ चेष्टाएँ हृदय मोहतीं ॥
उनकी तुच्छ क्रियाओं में भी;
मौलिक बातें अमित सोहतीं ॥


चतुर्थ सर्ग
किशोर वय

बच्चे टोली में इधर-उधर, हैं घूम रहे कुछ मस्त हुए ।
जैसे अम्बर में बादल-दल, मँडराते हैं स्वच्छन्द हुए ॥

ये बालक-वृन्द मुदित मन सब, इनमें विषाद का नहीं लेश ।
ये जहाँ पहुँचते वहीं किया, करते निर्मित सुखप्रद प्रदेश ॥

मानों उल्लास-हास-जगती, इनके ही साथ चला करती ।
अथवा कि सरलता-सुमति-हास-उल्लास-राशि इनमें वसती ॥

ये तो निर्द्वन्द विचरते हैं, इन पर चिन्ता का भार नहीं ।
ये मन चाहा सो करते हैं, घूमे फिरते हैं सभी कहीं ॥

इन बच्चों की टोली के हैं, अधिनायक बालक वर्द्धमान ।
उनकी सर्वोपरि वुद्धि शक्ति, रहती उनकी आज्ञा प्रमाण ॥

यह बालक टोली खेल जहाँ, अब करती - वहाँ - युगल यतिवर ।
आ निकले जिनका नाम विजय, सञ्जय जो चारणऋद्धि-निकर ॥

इनको शङ्का यह थी — जाता है जीव मरण के बाद कहाँ ?
है स्वर्ग नर्क भी या कि नहीं, या केवल गोचर लोक यहाँ ॥

यह शङ्का-शूल हृदय में था, उद्विग्न किए युग मुनिवर को ।
जैसे कि फाँस साला करती, जिसके चुभ जाती उस जन को ॥

पर वर्द्धमान बालक-नायक का, मुख-मण्डल प्रभावशाली ।
लख दूर हो गई स्वयम् आप, शङ्का अस्थिर करने वाली ॥

युग मुनिवर ने इनको पाया, सु-विचक्षण बालक मेधावी ।
झट सोचा 'सन्मति' नाम सुभग, मति भेद सकी गति मायावी ॥

इन दिग्वेषी सु-साधु जन को, श्री वर्द्धमान ने देखा जब ।
बोले वे सभी साथियों से, चल करें साधु-स्वागत हम सब ॥

बालक घिर आए मुनि-समीप, निज नायक के कथनानुसार ।
युग यति का अभिनन्दन करने, थे खड़े हुए सब विनय धार ॥

मुनि द्वय ने भी बालक-गण को, आशीर्वाद हो मुदित दिया ।
फिर वर्द्धमान का नाम सुभग, 'सन्मति' बच्चों को बता दिया ॥

तदनन्तर युग मुनिवर सत्वर, थे विदा हुए अपने पथ पर ।
पर सन्मति बालक ने 'सन्मति' उपयुक्त नाम पाया सुन्दर ॥

प्रति बात खेल में अब कहते, उनसे 'सन्मति' बालक-गण सब ।
पर समरस 'सन्मति' को किञ्चित, था गर्व न पा यह गुरु गौरव ॥

जब लौटे घर को वर्द्धमान, माँ-पिता, सभी को बच्चों ने ।
बतलाया 'सन्मति' नाम रखा, जब खेल रहे वे युग मुनि ने ॥

सुन यह घटना सब मुदित हुए, माँ त्रिशला का मृदु मुख दमका ।
कुछ स्वाभिमान की रेखा से, था नृप-मुख-मण्डल भी चमका ॥

जब वर्द्धमान के शिक्षक ने, इस शुभ घटना को था जाना ।
हर्षातिरेक स्वाभाविक ही, मन-मोद उन्हों ने था माना ॥

बोले सहसा—'इस बालक का, मैं नाम यही तो सोच रहा ।
जो अभिनव मैंने बतलाया, वह इन्हें सदा ही ज्ञात रहा ॥

जब कभी कहीं मैं भूला कुछ, इनको लख शीघ्र याद आया ।
इनकी सु-प्रज्ञ मुद्रा ऐसी, मैंने भी यह अनुभव पाया ॥

यह स्वयम् प्रज्ञ-से लगते हैं, इनको कोई क्या शिक्षा दे ?
सचमुच मुझको ऐसा लगता, इनसे शिक्षक भी शिक्षा लें ॥'

वे अध्ययन करते और खूब, नित नूतन खेल रचाते हैं ।
निज जीवन को बहुमुखी सौम्य, वे इस विधि सरस बनाते हैं ॥

इस जीवन की वे नव वय में, हैं सत्य वचन बोलते सदा ।
अस्तेय पालते पूर्णतया; करते हिंसा किञ्चित न कदा ॥

वे ब्रह्मचर्य से रहते हैं, विषयों में जाती नहीं दृष्टि ।
परिमाण परिग्रह में उनके, सज्जीवन की आदर्श सृष्टि ॥

इस सदाचरण परिणाम रूप, उनमें अनन्त दृढ़ता सु-धैर्य।
बढ़ रहा निरन्तर दिन प्रति दिन, उनमें साहस बल अमित शौर्य॥

उनके साधारण कृत्यों में, है वीर-वृत्ति दिखती सदैव।
पुरुषार्थ हेतु उद्यमी सदा, उनका आदर्श न रहा दैव॥

इसलिए 'वीर' अब नाम पड़ा, विकसित सन्मति का बल विक्रम।
साहसिक कार्य प्रायः करते, दुर्गम भी उनके हाथ सुगम॥

मानों कि वीर्य-साहस अनुपम, आकर उनमें ही चरम हुआ।
अथवा कि सफलता से उनका, कोई अभिन्न सम्बन्ध हुआ॥

यह बाल वीर-बल-यश-चर्चा, अब चारों ओर विकीर्ण हुई।
उस स्वर्ग लोक में भी तो हाँ, सन्मति-साहस पर बात हुई॥

बोला-'त्रिलोक में' कोई सुर, 'साहस न किसी का सन्मति-सम।'
इस पर लेकिन विश्वास नहीं, कर पाया कश्चित सुर-सङ्गम॥

अतएव परीक्षा सन्मति की, करने की उसने मन ठानी।
अति जटिल परीक्षा कोई-सी, वह सोच रहा था विज्ञानी॥

खेलते बाग में वट-तरु-तर, जब सन्मति निज साथियों सङ्ग।
तब सङ्गम सुर झट बन आया, अति भयकारी काला भुजङ्ग॥

वह वृक्ष-तने पर लिपट गया, कुछ भाग रहा उसका भू पर।
विष की विषाक्त-सी फुफकारें, अब मार रहा था वह विषधर॥

जैसे ही बच्चों ने देखा, वे नौ-दो-ग्यारह शीघ्र हुए।
मुँह उठा उसी दिशि में भागे, वे महा भीत निर्वाक हुए॥

पर वर्द्धमान वे बाल वीर, किञ्चित न डरे उससे दृढ़तर।
पहुँचे तत्काल फणीश निकट, जा खड़े हुए उसके फण पर॥

उसके फण पर खेलते रहे, थे बहुत देर वे अति निर्भय।
था रचता क्रीड़ा रहा वहाँ, फणधर भी मग्न हुआ अतिशय॥

बच्चों ने राज-भवन में जा, विषधर वृतान्त सब बतलाया।
उद्विग्न हुए अति नृप-त्रिशला, जब साथ न सन्मति को पाया॥

माँ त्रिशला बोलीं नृपवर से, 'क्या बात नहीं सन्मति आया।
वह जाने कहाँ किस तरह है?' जी त्रिशला का अति भर आया॥

नृप बोले 'तुम चिन्ता न करो, मैं अभी ज्ञात सब करता हूँ ।
मैं भृत्य भेजता और स्वयम्, उस बाग ओर ही जाता हूँ ॥'

त्रिशला बोलीं—'शीघ्रता करें, कोई न घटित दुर्घटना हो ।
यदि राज-वैद्य भी साथ लिए, जावें तो अति ही अच्छा हो ॥

जी चाह रहा यों मेरा भी, मैं भी श्रीमन् के साथ चलूँ ।
निज वर्द्धमान को देख सकूँ, कैसे मन मारे यहाँ रहूँ ?

नृप बोले—'तुमको साथ लिए, चलने में तनिक देर होगी ।
कारण रथ की तैय्यारी सब, तब गमन-हेतु करनी होगी ॥

मैं जाता, नहीं विलम्ब करूँ,' कह नृपति गए झट ही बाहर ।
वे चले वैद्य कुछ जन ले कर, वन को, चर भेजे इधर उधर ॥

लेकिन अन्तःपुर में त्रिशला, माता को धैर्य न किंयत हुआ ।
वे क्षण-क्षण पर हैं सोच रहीं: जाने क्या होगा वहाँ हुआ ?'

दासियाँ निरत परिचर्या में, सखियाँ मृदु उनसे बोल रहीं ।
सब विधि से ढाढस दे उनको, हैं ध्यान बटा हर समय रहीं ॥

माँ त्रिशला कहतीं हैं उनसे, जब भी—'अब जाने क्या होगा ?'
तो कहतीं उनसे हैं सखियाँ, 'उनका न बाल बाँका होगा ॥

कारण सन्मति हैं भाग्यवान, उनकी होगी अति दीर्घ आयु ।'
यह सुन माँ जी को भी ऐसा, लगता पातीं ज्यों धैर्य-वायु ॥

लेकिन संकल्प-विकल्पों के, झूलों पर हैं वे झूल रहीं ।
वे धैर्यवान हो कर भी हैं, चिन्तित-सी सब कुछ भूल रहीं ॥

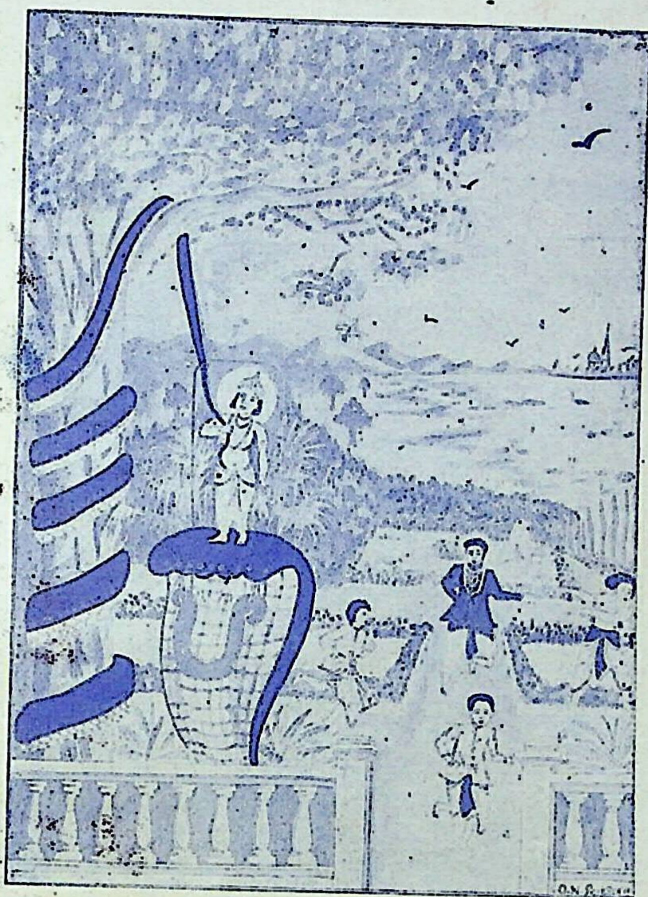
माँ के अन्तर की कोमलता, माँ के अन्तस की मृदु ममता ।
माँ का मानस ही जान सका, क्या इसकी कहीं प्राप्य समता ?

जा पहुँचे उधर बाग में जब, सब सन्मति को ढूँढते हुए ।
नृप वैद्य आदि ने देखा तब, उनको फण पर खेलते हुए ॥

आश्चर्य चकित कुछ स्तम्भित, रह गए सभी जन जो आए ।
कौतूहल पर सबके मुँह पर, भय-चिह्न सहज ही दिखलाए ॥

पैरों की भूमि सरकती-सी, उन सबको थी भासने लगी ।
रोंगटे खड़े सबके, आगे-बढ़ने की पर हिम्मत न जगी ॥

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर



खेलते बाग में वट-तरु-तर, जब सन्मति निज साथियों संग ।
तब संगम सुर रूट बन आया, अति भयकारी काला भुजंग ॥

वह वृक्ष तने पर लिपट गया, कुछ भाग रहा उसका भू पर ।
विष की विषाक्त-सी फुफकारें, अब मार रहा था वह विषधर ॥

जैसे ही बच्चों ने देखा, वे नौ-दो-ग्यारह शीघ्र हुए ।
मुँह उठा उसी दिशि में भागे, वे महाभीत निर्वाक् हुए ॥

पर वर्द्धमान वे बाल वीर, किंचित न डरे उससे दृढ़तर ।
पहुँचे तत्काल फणीश निकट, जा खड़े हुए उसके फण पर ॥

उसके फण पर खेलते रहे, थे बहुत देर वे अति निर्भय ।
था रचता क्रीड़ा रहा वहाँ, फणधर भी मग्न हुआ अतिशय ॥



........पर महावीर ने जाना जब, इस उन्मद हाथी का वृतान्त।
उत्पात जहाँ यह गज करता, पहुँचे उस थल निर्भय नितान्त॥

xxx xxx xxx

वे सिंह सदृश केहरि सम्मुख, जा खड़े हुए भय-भाव-रहित।
मदमाता हाथी सूड़ उठा, झपटा इन पर अतिवेग-सहित॥
पर वीर सूड़ से चढ़े शीघ्र, उसके मद विगलित मस्तक पर।
गज सहमगया मद भूल गया, पा शासन सन्मति का शिर पर॥

लेकिन वे वर्द्धमान निर्भय, उस सर्प-साथ खेलते रहे ।
पर एक दूसरे का मुँह वे, आगन्तुक गण देखते रहे ॥

लेकिन सन्मति को कुशल देख, नृप को साहस कुछ तोष हुआ ।
इतने में ही सङ्गम सुर को; आगत जन-संकुल-बोध हुआ ॥

वह स्वाभाविक स्वरूप में झट, आया सन्मति को उठा लिया ।
बैठाया निज कन्धों ऊपर, आनन्द-सहित, मन हर्ष किया ॥

पहुँचा वह स्वयम् वीर को ले, आगन्तुक सु-जनों के समीप ।
'तुमने यह क्या था खेल रचा ?' सङ्गम सुर से बोले महीप ॥

उत्तर न देव कुछ दे पाया, सन्मति उतरे झट कन्धों से ।
सम्राट निकट जा खड़े हुए, वे स्वस्तिवाद कर सब जन से ॥

नृपवर सन्मति के शिर पर अब, थे हाथ फेरते खड़े हुए ।
सङ्गम-सुर-उत्तर सुनने को, मानों वे केवल रुके हुए ॥

बोला सुर—'खेल कुतूहल जो, समझें; पर शौर्य-परीक्षा-हित ।
मैंने यह था सब ढोंग रचा, पर हुए वीर वर इसमें जित ॥'

नृप ने फिर पूँछा—'देवराज ! क्यों शौर्य-परीक्षा की ठानी ।'
तब उत्तर में वह बोला यों, जाज्वल्यमान स्वर्गिम-प्राणी ॥

'जब स्वर्गलोक में बात चली, सन्मति-सम जग में शौर्य नहीं ।'
तब मैं विश्वास न कर पाया, ली अतः परीक्षा जटिल यहीं ॥

यह सन्मति केवल वीर नहीं, ये तो सच अतिशय धीर वीर ।
मैं तो कुछ सोच समझ इनका, हूँ नाम रख रहा 'महावीर' ॥

यह यथा नाम है तथा गुणः, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं ।'
सबके अन्तस में यही बात, है सत्य बनी अब गूँज रही ॥

नृप ने शाबासी दी सुत को, अति हर्ष समाया सबके मन ।
बोले नृप—'शीघ्र चलें घर, माँ, इनकी इन-बिन होंगीं उन्मन ॥'

सुर ने सन्मति को पुनः उठा, अपने कन्धों पर बिठलाया ।
सबके फिर साथ चला पुर को, हर्षातिरेक-सा हो आया ॥

जा पहुँचे सब प्रासाद निकट, माँ त्रिशला खड़ीं द्वार पर थीं ।
सखियों सँग बाट जोहतीं वे, सुत-मिलन हेतु अति आतुर थीं ॥

जब देखा सुर के कन्धों पर, बालक सन्मति को चढ़े हुए।
तो वे प्रमुदित लेकिन विस्मित, दुर्भाव तिरोहित शीघ्र हुए॥

वे भूलीं-सीं देखने लगीं, सन्मति को निर्निमेष दृग से।
पर वर्द्धमान झट देख उन्हें, उतरे सङ्गम के कन्धों से॥

आ पहुँचे वे माँ के समीप, शुचि प्रेम-पगा सम्वाद किया।
माँ ने दुलार से आशिष दे, सुत स्नेह-अङ्क में उठा लिया॥

नृप, राज्ञी, सखियाँ, सुर, सन्मति, फिर अन्दर गए महल प्रशान्त।
इतने में नृप ने बतलाया, सब देव-परीक्षा का वृतान्त॥

सम्राज्ञी बोलीं—'देवराज! यह खेल तुम्हारे लिए रहा।
यदि हो जाता कुछ सन्मति को, तो जाता कैसे दुःख सहा॥

सचमुच जीवन तब मुश्किल था, हम तो सुत भर ही जीते हैं।
इनके बिन तो सब काम धाम, लगते हमको अति रीते हैं॥'

सुर बोला—'माँ जी! वर्द्धमान, होते इतने यदि वीर नहीं।
तो सुनो परीक्षा की नौबत, आ सकती थी किञ्चित न कहीं॥

फिर भी मैं क्षमा माँगता हूँ, श्रीमती आपसे भूपति से।
पर वर्द्धमान होंगे प्रसिद्ध, सच 'महावीर' जग में अब से॥

इतना कह कर सुर सङ्गम ने, ली विदा उपस्थित सब जन से।
कर नमस्कार वह चला गया, निज स्वर्गलोक को भूतल से॥

यह घटना कई दिवस तक थी, बन गई विषय जन-चर्चा का।
नृप-राज्ञी से पूँछता अगर, कोई वृतान्त इस घटना का॥

तो वे बतलाते मग्न हुए, प्रमुदित जो कुछ था हुआ घटित।
श्रोता तन्मय हो कर सुनते, करते सन्मति श्लाघा हर्षित॥

सम्मानित होते वर्द्धमान, अब 'महावीर' शुभ संज्ञा से।
लेकिन उनमें अभिमान नहीं, बाहर-भीतर वे समरस-से॥

सागर-से वे गम्भीर-धीर, आकाश सदृश विस्तीर्ण दृष्टि।
योद्धाओं से बढ़ अतुल शौर्य, पर हृद-ऋजुता की मृदुल सृष्टि॥

आनन्द सहित दिन बीत रहे, सन्मति हो आए अब किशोर।
साहसिक कार्य करते रहते, चिन्तन में भी रहते विभोर॥

सामाजिक कार्यों में उनको, रहता किञ्चित सङ्कोच नहीं ।
जन-हित निज प्राण-समर्पण में, होता कुछ उनको सोच नहीं ॥

है एक दिवस की बात कि जब, गज हुआ एक अति मदोन्मत्त ।
झञ्झा-सा भगता इधर-उधर, स्वच्छन्द हुआ मद में प्रमत्त ॥

वह लौह-साँकलें तोड़-ताड़, भागा था हाथीखाने से ।
ज्यों काल मूर्त हो दौड़ रहा, गज मिस उन्मुक्त हुआ जैसे ॥

हस्ती-पग-तल मरते अगणित, जन जो भी पथ पर आ जाते ।
पर असह्य वेदना से वे सब, तज रहे प्राण थे चिल्लाते ॥

थे सभी महावत चकड़ाए, वश कर न सके गज मतवाला ।
हिम्मत परास्त थी हो जाती, देखते जभी हाथी काला ॥

गण्डस्थल से मद चूता था, चिंघाड़ रहा घन-गर्जन-सा ।
अतिशय विशाल तरु तोड़ रहा, वह महा भयानक राक्षस-सा ॥

पर महावीर ने जाना जब, इस उन्मद हाथी का वृतान्त ।
उत्पात जहाँ यह गज करता, पहुँचे उस थल निर्भय नितान्त ॥

रोका सब ने श्री सन्मति को, पर वे न रुके साहसी अतुल ।
वे अभयदान नागर जन को, देने को मन में थे आकुल ॥

वे सिंह सदृश केहरि-सम्मुख, जा खड़े हुए भय भाव-रहित ।
मदमाता हाथी सूँड़ उठा, झपटा इनपर अति वेग-सहित ॥

पर वीर सूँड़ से चढ़े शीघ्र, उसके मद-विगलित मस्तक पर ।
गज सहम गया मद भूल गया, पा शासन सन्मति का शिर पर ॥

दर्शक थे सब आश्चर्य चकित, इस पौरुष साहस से विस्मित ।
कर उठे प्रशंसा भूरि-भूरि, गज पर बैठे सन्मति सस्मित ॥

पहुँचाया गज को यथास्थान, सन्मति फिर लौटे महलों में ।
माँ निकट खड़े वे विनयवान, माँ हुई मुदित निज अन्तस में ॥

वे बोलीं—'बेटे कहाँ गए, मैं तो तुमको थी देख रही ।
गज मदोत्पात कर रहा यहाँ, सुन कर तब से कुछ सोच रही ॥

आशङ्का में मन डूबा था, पर शकुन हो रहे पल प्रति पल ।
इसलिए हृदय कुछ सन्तोषित, पर बाट जोहता तव अविरल ॥

'पर माँ तव शकुन ठीक निकले, मुझको कुछ ऐसा लगता है।
मैंने गज वश कर बन्द किया, अब तो उत्पात न करता है॥'

'ऐं क्या कहते? तुमने अच्छा, तुम भला शान्त कब रह सकते?
ऐसे कामों को तो तुम हो, बिन सोचे समझे ही करते॥'

'लेकिन माँ जी तुम सोचो तो, करि कर भीषण संहार रहा।
यदि किया न जाता वह वश तो, कैसे टलती यह विपति महा॥'

इतने में आए श्री नृपवर, स्वागत सन्मति ने सहज किया।
आशीर्वाद तब भूपति ने, अति हर्षित हो कर उन्हें दिया॥

बोले वे त्रिशला से, 'जाना—सन्मति ने वह गज मतवाला।
वश कर न सके जिसको योद्धा, दृढ़ फीलवान, वश कर डाला॥

हम मंत्रि प्रवर थे सोच रहे, कैसे वश में गज किया जाय।
पर साधन हो सब विफल रहे, कोई न सूझता था उपाय॥'

'श्रीमन् कैसे हैं नृपति कि जो, गज एक मत्त वश कर न सके।
जिस पर सन्मति से बच्चे भी, अपना शासन हैं जमा सके॥

अब त्याग-पत्र दें नृप-पद से, त्रिशला सव्यङ्ग बोलीं ऐसे।
तब कहा नृपति ने उत्तर में—'तुम ठीक कह रहीं हो मुझसे॥

मैं भी ऐसा ही सोच रहा, सन्मति को राज-तिलक कर दूँ।
लूँ मैं विराम अब शान्ति सहित, तव सञ्चित अभिलाषा भर दूँ॥'

इस पर सन्मति कुछ कहने को, पर कहा नृपति ने कुछ पहले।
तब शान्त रहे शम वर्द्धमान; वे शब्द न कोई थे बोले॥

नृप थे उनसे बोले—'तुमने, जीवन की कुछ परवाह न की।
पर भला हुआ उत्पात-शमन, बच गई जान अगणित जन की॥'

ऐसे समयों पर वर्द्धमान, प्रायः कुछ करते बात नहीं।
वे तो शम दिखते हैं निरुपम, उनमें उच्छृंखल-दृष्टि नहीं॥

पर मात-पिता का मृदुल हृदय, मन फूला नहीं समाता है।
कारण इसका शायद लगता, सुत होने का शुभ नाता है॥

तदनन्तर थे दरबार गए, सिद्धार्थ नृपति जब सन्मति सँग।
तो सबने स्वागत पूर्ण किया, मानों ले कर नूतन उमँग॥

नियमित कार्यों के बाद चली, चर्चा उस केहरि घटना पर ।
'हैं धन्य कुमार किया वश गज,' वार्ता में बोले मंत्रि प्रवर ॥

पर मूक रहे वे विनयवान, मृदु वर्द्धमान सुन निज बखान ॥
अब अन्यमनस्क विलोक रहे, वे द्वार-पार कुछ आसमान ।

पर बोला कोई नागर जन, 'उत्पात-शान्त शत धन्य इन्हें ।
अब अभय-मार्ग पर चलते सब, कह रहा लोक 'अतिवीर' इन्हें ॥

जनता के प्रिय बन गए 'वीर'
'महावीर' और 'अतिवीर' हुए ।
सन्मति किशोर यश-शोर हुआ,
चहुँओर वीर गम्भीर हुए ॥


पंचम सर्ग
तरुणाई एवं
विराग

तरुण विकसित मंजु तन में, वेणु बजती भावना की ।
कौन हृदय खसोटता ? क्या सुप्त रेखा वासना की ॥

कामना के गीत गाने को, हृदय आकुल हुआ-सा ।
मधुर जग में सञ्चरण हित, मन-विहग व्याकुल हुआ-सा ॥

कल्पना के सौम्य नभ में, पंख मन-खग खोलता-सा ।
मुक्त उड़ने को इधर कुछ, कुछ उधर वह डोलता-सा ॥

मदिर सरगम के सुरीले, तार झन-झन कर उठे-से ।
और 'रुन-झुन' शब्द सुनने को मचलते भाव जैसे ॥

चाह की मृदु चाँदनी है, फैलती-सी उर-गगन में ।
नाचता-सा मोर मन का, हो मगन संसार-वन में ॥

मोह-आकर्षण रंगीले, जाल कुछ फैला रहे-से ।
बाँधने अभिलाष-पंछी, कर रहे थे यत्न जैसे ॥

किन्तु सन्मति सूक्ष्म दृष्टा, देखते सब हो सजग-से ।
चेतना में लीन सक्रिय, विज्ञ यौवन आगमन से ॥

जानते वे काम उग-सा, है रहा मानस-पटल पर ।
सूक्ष्म और अदृश्य जिसकी गति रहा चुपचाप पग धर ॥

प्रथम ऊषा की किरण-सा, यह हृदय रंजित बनाता ।
किन्तु भावी के लिये यह, विश्व दलदल में फँसाता ॥

'अहे यौवन ! इन्द्रधनु-सी, छिटकती तव छवि निराली ।
नाच उठती कामना के, नीर-तट पर मन-मराली ॥'

सोचते एकान्त में यों, वर्द्धमान प्रशान्त मुद्रा।
'यह जवानी है नशीली, रच रही जो मदिर तंद्रा॥

शुद्ध 'मैं' का रूप कब है? यह नशा है धमनियों का।
रक्त का उद्वेग कह लो, यह स्वरूप न 'आतमा' का॥

मोह, ममता, लोभ, रति, घन, हुए हावी तरुण वय पर।
आवरण नित डालते ये, ज्ञान के शाश्वत निलय पर॥

और प्राणी सोचता कब, यह जवानी भी लुभानी।
थिर न रह सकती कभी भी, अथिर इसकी चिर कहानी॥

हे जवानी! किन्तु मुझको, तू नहीं भरमा सकेगी।
तू न मेरे मर्त्य तन में, काम-तरु पनपा सकेगी॥

क्योंकि मैंने है न खोया, शुद्ध ज्ञान विवेक-साथी।
अतः पास न आ सकेगा, काम का उन्मत्त हाथी॥

शुद्ध चेतन-भाव-नभ में, चेतना मेरी चढ़ेगी।
कल्पना क्रियमाण बनकर, त्याग-पंखों पर उड़ेगी॥

बँधा मेरा 'आतमा' जो, देह की जड़ जेल में है।
उसे निश्चय एक दिन तो, मुक्त करना ही मुझे है॥

मुझे लगता, हैं कि जब तक, लोक इच्छायें मधुर तम।
कर्म-कोल्हू में जुता हूं, बैल-सा बनकर अधमतम॥

अतः जग की एषणाएँ, न्यूनतम करनी मुझे हैं।
हे विषम पथ! भाव मेरे, दे रहे न्योता तुझे हैं॥

मुझे अस्थिर रूप जगका, दिख रहा चारों तरफ है।
अरत परिवर्तन सभी के, शीश पर चुप नाचता है॥

कहाँ हैं वे राम लक्ष्मण, सती सीता-सी शिरोमणि।
वीर योद्धा, चक्रवर्ती, हैं कहाँ उनकी मुकुट-मणि॥

काल के ही गाल में है, भाल जीवन का हमारा।
तुहिन-कण-सा यह अथिर है, रत्न जीवन का दुलारा॥

अतः निश्चित मृत्यु मुझको, सब तरफ दिखला रही है।
है न इससे शरण जग में, विश्वगति यह गा रही है॥

पुण्य का सम्बल मिला तो, शत्रु भी बन मित्र जाते ।
पाप का आया उदय तो, मित्रजन बन शत्रु जाते ॥

इस तरह अशरण जगत सब, शरण बस अरिहंत स्वामी ।
क्योंकि मरना जीतने का, मार्ग बतलाते अकामी ॥

मुक्त हैं अरिहन्त पर मैं, कर्म-कारा में बंधा हूं ।
हुए जग से मुक्त इस विधि, उन्हें नेता मानता हूं ॥

और जब संसार में मैं, देखता हूं शान्त होकर ।
तो मुझे लगता भ्रमण जग, जीव करते क्लान्त होकर ॥

शान्ति जग में है कहाँ, रे ! हैं कहाँ चिर सौख्य साधन ।
जन्म में भी दुःख दिखता, मृत्यु में उत्पात पीड़न ॥

तरुण वय को भी कुचलता, शिर बुढ़ापा नित्य क्षण-क्षण ।
फिर कहाँ संसार में सुख, चेत रे ! मम चेत रे मन !!

तू अकेला शुद्ध चेतन, है न कोई साथ जग में ।
हैं सगे साथी बने जो मोह में वे स्वार्थ-मग में ॥

जन्म में आया अकेला, और जायेगा अकेला ।
देख लो मन ! सत्य जग में, कौन हो पाया दुकेला ॥

मात-पित ये इष्ट जन सब, लोक-कथनी में सगे हैं ।
किन्तु मुझको भासता ये, मोह-संसृति में पगे हैं ॥

जब किसी को कष्ट होता, रे, असह इस मर्त्य तन में ।
कौन तब लेता बटा है, भोगता वह आप मन में ॥

बात क्या है इष्ट जन की, यह न देही भी हुई निज ।
कर रहे जिसकी सुश्रूषा, अन्त में वह जायगी तज ॥

देह जड़ है मैं सु-चेतन, वर्तमान विभाव परिणत ।
इसीकारण विश्व में हूं, सह रहा मैं दुःख अगणित ॥

मोह वश संसार तन को, नित्य अपना मानता है ।
आत्म रूप विसार कर वह दुःख रौरव भोगता है ॥

हाय ! चेतन का महा यों, हो रहा अपमान निशि दिन ।
और पोषित हो रहा है, यह अरत घिनगेह जड़ तन ॥

वीर्य-रज से देह उपजी, छीः अशुचि अवतार है यह।
चर्म वेष्टित हाड़ मज्जा, रक्त का आगार है यह ॥

कौन इससे घृणित अतिशय, वस्तु जग में हो सकेगी।
नौ मुखों से मैल बहता, रात दिन क्या लाभ देगी ॥

विष भरा जैसे कलश हो, रोग शोकों का पिटारा।
किन्तु फिर भी लीन इसमें, जीव सहता दुख विचारा ॥

मोह का पर्दा पड़ा है, ज्ञान-ज्योति न मिल रही है।
इसलिए इस जीव की तो, भ्रमण की गति हो रही है ॥

भ्रमित प्राणी देह के हित, नवल इच्छाएं सँजोता।
कर्म पुद्गल का निमंत्रण, आस्रव यों नित्य होता ॥

सिवा कर्मों के न जग में, और जो मम अहित कर ले।
कर्म का ही आगमन, जो पुण्य पीड़ा में बदल दे ॥

भावनाऐं औ, क्रियाऐं, खींचतीं है कर्म रहतीं।
इसलिए सद्भावनायें, सद्क्रियाऐं शुभ्र रहतीं ॥

मोक्ष के हित किन्तु हमको, चाहिए सब कर्म का क्षय।
अतः आना रुक सके, रिपु – कर्म का, हो दूर जग-भय ॥

पञ्च व्रत शीलापरिग्रह, सत्य औ, अस्तेय करुणा।
अनुसरण हो, पञ्च इन्द्रिय की विजय की वहे वरुणा ॥

इस तरह हों बन्द कर्मों के लिये निज क्रिया द्वारे।
तभी संवर, हो सकेंगे बन्द आस्रव के किवारे ॥

बन्द जब आस्रव हुआ तो, कर्म सञ्चित जो पुराने।
साधना की अग्नि में वे, तब सभी होंगे जलाने ॥

क्योंकि हो जाते किसी विधि, यान में जब छिद्र किञ्चित।
तो कुशलतम पोत चालक, बन्द करता छिद्र निश्चित ॥

वाद में फिर पोत-वाहक फेकता आया हुआ जल।
इस तरह जल-यान करता, ठीक, वह होता न बोझिल ॥

यों स्वचेतन-यान के सब, बन्द आस्रव-द्वार करने।
और सञ्चित कर्म-जल-कण, निर्जरा से क्षार करने ॥

पार होगा इस तरह यह, विश्व-जल से, यान अपना ।
और पायेगा सहज ही, मोक्ष-तट-चिर लक्ष्य अपना ॥

सोचता क्या लोक-रचना, द्रव्य छः का खेल लगता ।
काल धर्माधर्म चेतन, शून्य जड़ का योग दिखता ॥

एक पुद्गल दिख रहा है, और द्रव्य अदृश्य सारे ।
किन्तु संसृति चल रही है, एक दुसरे के सहारे ॥

नर्क पशु सुर मनुज गति में, जीव मोही घूमते हैं ।
कर्म के अनुरूप अपना, भाग्य नित ही ढालते हैं ॥

मोह के वश जीव-जड़ की, भेद दृष्टि न समझ आये ।
कर्म छिलका हटे चेतन-धान से, तो जन्म जाए ॥

ज्ञान सत दुर्लभ जगत में, भोग-सम्पति सब मिले हैं ।
पर यथार्थ सुबोधि बिन तो भ्रान्ति वश जग में रुले हैं ॥

धर्म का बस एक सम्बल, जो जगत से पार करता ।
वस्तु का निज रूप ही तो, धर्म सत् है मुझे दिखता ॥

किन्तु जग में आज तो है, धर्म की विकृति हुई अति ।
स्वार्थ-साधन बन रहा यह, बलवती है हिंस जड़ मति ॥

दूर दुःस्थित यह करूँगा, अब यही मन ठानता हूँ ।
सत्य करुणा आत्म-थिति को, धर्म सत मैं मानता हूँ ॥

सही श्रद्धा ज्ञान चारित की त्रिवेणी जीव तुझको ।
स्नात करके, यह करेगी, दूर तेरे विश्व-मल को ॥'

इसलिये, सन्मति स्वयं अब, दूर भौतिक दृष्टि से हैं ।
तत्व की अनुपम तुला पर, आत्म-निधि वे तौलते हैं ॥

प्राय एकाकी हुये वे, भाव ऐसे ही सँजोते ।
बाह्य आकर्षण रंगीले, अब न किञ्चित भी रिझाते ॥

देख सन्मति की दशा यह, मात-पित कुछ सोचते यों ।
ये अभी से ही विरागी लग रहा है, हो रहे ज्यों ॥

है तरुण वय हुई इनकी, ब्याह करना इष्ट हमको ।
बाद में दुस्तर बनेगा, सच मनाना हमें इनको ॥

। सौम्य-सा सम्बन्ध कोई, ढूँढ़ने के हेतु कुछ जन ।
॥ भेज नृपवर ने दिए हैं, जो कुशल है मोदयुत मन ॥

वर्द्धमान स्वरूपबल की, कीर्ति से थे सभी परिचित ।
निज सुता सम्बन्ध हित यों, बहुत से नृप हुए उद्यत ॥

। जबकि राजकुमारियों ने, बात सन्मति की सुनी तब ।
॥ सहज करने लगा उनका, सरस मानस मदिर कलरव ॥

कामना के स्वप्न तो अब, आ रहे बिन प्रकृत निद्रा ।
रक्त यौवन का मदिर यह, मृदु नशीली मत्त तंद्रा ॥

। किन्तु नृप सिद्धार्थ त्रिसला—ने सुना विवरण सभी का ।
॥ रूप, रंग, लावण्य गुण की, दृष्टि से विस्तार उनका ॥

तो कलिङ्गाधिप-सुता पर, शुभ यशोदा नाम जिसका ।
मुग्ध हो आया हृदय अति, सुत-वधू-हित-हेतु उनका ॥

। भाव त्रिसला और नृप के, जब कलिङ्गाधीश ने भी ।
॥ ज्ञात कर पाये तभी वे, शीघ्र आए ले शिविर भी ॥

नाम था जितशत्रु इनका, निज सुता को साथ लाए ।
देख जिसका रूप गुण, सिद्धार्थ त्रिसला मुस्कराए ॥

। सुत-वधू के सम्वरण-हित, वे सभी विधि से लुभाए ।
॥ प्रश्न पर यह बात कैसे, कौन सन्मति को सुनाए ?

नृपति बोले, 'तुम्हीं त्रिसला ! वृत्त सन्मति को बताओ ।
और उनको किसी विधि भी, ब्याह करने को मनाओ ॥

। क्योंकि तुम ही साध सकती, बात यह मेरी समझ में ।
॥ मातृपद के जोर से तुम, मना सकती हो तनिक में ॥'

'मैं अभी तैयार लेकिन, आप भी आना वहाँ पर ।'
दिया उत्तर राज्ञिवर ने—'आपका क्या वह न सुतवर ?'

। नृपति बोले विहँस, अच्छा, रात जब होगी अभी तब ।
॥ ब्याह का प्रस्ताव रखना, वीर के सम्मुख सु-नीरव ॥

बाद में मैं आऊँगा तब, पुष्टि करने को तुम्हारी ।
पूर्ण होगी इस तरह से, समझता इच्छा हमारी ॥'

इस तरह अब रात का यह, कार्यक्रम हो गया निश्चित।
उधर नव तरुणी यशोदा, निज शिविर में मुदित अविदित ॥

रूप का अभिमान किञ्चित, कर रहा अभिभूत उसको।
बाह्य से वह कुछ लजाती, पर अमित अह्लाद उसको ॥

'गए सन्मति घूमने को, हैं अभी ही इसी पथ से।'
शब्द उसके कर्ण-कुहरों, में पड़े कुछ मञ्जु स्वर-से ॥

झनझनाये तार कोमल, हृदय-वीणा के सिहर कर।
पुनः आवर्तन इन्हीं का, हो रहा उर में घुमड़ कर ॥

वीर प्रत्यागमन-दर्शन, हेतु इच्छा मुस्कराई।
हृदय स्पन्दित हुआ-सा, द्वार पर वह शीघ्र आई ॥

सान्ध्य-वेला में खड़ी निज, शिविर के अब द्वार पर वह।
कल्पना-हिन्दोल पर अब चुप खड़ी भी डोलती वह ॥

अरुण ऊषा-से मधुर कुछ, थिरकते मृदु भाव उर पर।
वर्द्धमान स्वरूप के कुछ चित्र बनते हृदय-पट पर ॥

कामना आकुल बनाती नव-मिलन इच्छा जगाकर।
देखते सहसा कि सन्मति, जा रहे गृह, पर्यटन कर ॥

दिव्य उन्नत भाल उनका, सौम्य सुगठित कान्तिमय तन।
किन्तु नत दृग किए जाते, सोचते कुछ मौन मृदुमन ॥

निर्निमेष नयन-चषक से, पिया सन्मति-रूप-रस कुछ।
सोचती 'मुझको' यशोदा, 'देख पाए वे नहीं कुछ ॥

कौन कानन में विचरते, हो गए वे दृष्टि-ओझल।
हार क्यों मन मानता-सा, टीस खाते भाव कोमल ॥

रूप क्या वह रूप था मम रूप से भी रूपमय कुछ।
हीन मेरा रूप क्यों पर, दूसरों से श्रेष्ठतर कुछ ॥'

इन विकल्पों में यशोदा, हो रही गुम-सुम हुई-सी।
इधर सन्मति महल पहुंचे, शान्ति-मुद्रा प्रशमता-सी ॥

रात का तम सघन-सा अब, अस्त होता जा रहा है।
चाँद तारे हँसे नभ में, समय बढ़ता जा रहा है ॥

वर्द्धमान स्व-कक्ष में थे, सोचते बैठे हुए वे।
आगईं सम्राज्ञि त्रिसला, निरत विनयाचार में वे॥

भक्ति से कर विनय स्वागत, उच्च आसन पर बिठाया।
स्नेहयुत आशीष-वादन, मात से सुख-पूर्ण पाया॥

प्रेम से बोलीं जननि मृदु—'प्राय रहता सोचता-सा।
तू अकेले में हुआ क्या, मनन करता साधु जैसा॥'

'कुछ नहीं जब तब कभी मैं, लोक क्या है? स्वयं क्या हूँ।
इन्हीं प्रश्नों में रमा-सा, सोचता रहता यहाँ हूँ॥'

'बन रहे तुम तो अभी से, दार्शनिक से इस जगत में।'
'नहीं इतने में कहीं से, हो गया माँ दार्शनिक मैं॥'

किन्तु त्रिसला मृदुल बोलीं—'वत्स, मेरे आश-दीपक।
एक चिर अभिलाष मेरी, क्या भरोगे कुल-प्रदीपक॥'

'कब, नहीं आदेश माँ तव, कहो मैंने है निवाहा।
मैं सदा निश्चित करूँगा, आपने यदि उचित चाहा॥'

'उचित का बन्धन कहो क्या, वत्स, तुमने यह लगाया।
अन-उचित क्या कहूंगी, मम, तुम्हीं में सब कुछ समाया॥

सुत-बधू औ' पौत्र-दर्शन, की हृदय चिर साध साधे।
आज आया समय वह जब, तू सफल मम आश कर दे॥'

वीर विस्मत मुस्कराए, 'मोह का यह जाल कैसा?
मात ममता आपकी यह, कर रही जो प्रश्न ऐसा॥'

आगए सिद्धार्थ नृप भी, इसी वार्ता के कथन में।
किया सन्मति ने विनय युत, पितृ-स्वागत निज भवन में॥

उन्हें भी दे उच्च आसन, आप बैठे उचित थल पर।
प्राप्त कर आशीष उनकी, था मुदित अतिवीर-अन्तर॥

नृपति बोले, 'मोह, ममता, की चली यह बात कैसी?
तरुणवय सन्मति तुम्हारी, फिर कहो कैसी उदासी?'

कह रहे सन्मति, कि सहसा, मात त्रिसला ने कहा यों।
'व्याह का प्रस्ताव रक्खा, वह अस्वीकृत किया है यों॥

"वत्स! कहते ठीक तुम हो, जानता मैं भी तथा यह।
आत्म, जग-कल्याण के हित, हुआ सच ही जन्म तव यह॥

तुम धरोगे साधु-दीक्षा, समय पर पकने जरा दो।
आदि तीर्थङ्कर ऋषभ वत, पंथ अपना भी बना लो॥

ऋषभ स्वामी ने प्रथम तो, गृहस्थाश्रम ही बसाया।
बाद में फिर त्यागकर– आदर्श को भी था निभाया॥'

पिता उत्तर में कहा यों, पुत्र प्रिय ने अति विनय युत।
'ठीक, उनकी आयु पर थी, तीन पल्यों की सु-विस्तृत॥

किन्तु मेरी आयु उनसे, चौथियाई भी नहीं है।
काल का प्रतिफलन ऐसा, अतः रुकना शुभ नहीं है॥

किन्तु बोली मात त्रिसला– 'वत्स! क्या पूरी न होगी?
आश तव माता-पिता की, क्या अधूरी ही रहेगी?

"मात! अब भी मोह युत हैं, शब्द निकले आपके यह।
मैं परिस्थितियाँ सभी कुछ, आपके सन्मुख चुका कह॥

जन्म इसी अनादि जग में, रखे मैंने हैं अमित ही।
हुये होंगे मात-पित भी, इस तरह मेरे बहुत ही॥

वे कहाँ अब, मिट गए सब, मोह किस-किस का निभाऊँ?
सार क्या संसार में अब, आपको क्या मैं बताऊँ?

देवता भी इस मनुज के, जन्म पाने को तरसते।
क्यों कि नर तन प्राप्त करके, साधु व्रत हैं पाल सकते॥'

'पुत्र प्रिय यह बात कैसी, विश्व सुन्दरि जो यशोदा।
गुणवती मृदुभाषिणी वह, जो बनेगी सर्व सुखदा॥

तव सु-परिणय हित बुलाई, वह कलिंगाधिप सहित है।
फिर तुम्हारी बात यह क्या, वस्तु-स्थिति से रहित है॥'

'व्यर्थ में ही श्री पिता जी, कष्ट इतना है उठाया।
बिना मेरी राय के क्यों, आपने उसको बुलाया?

सोचता मैं और कुछ हूं, कर रहे हैं आप कुछ यह।
मैं धरूँगा साधु दीक्षा, पूर्व निश्चय मम हुआ यह॥

आज नारी इस जगत में, रह गई बस भोग का रस ।
वानप्रस्थी रख रहे हैं, भोग-हित युवतियाँ दश-दश ॥

हो रही हिंसा चतुर्दिक धर्म के ही नाम पर है ।
माँस लोलुप व्यक्तियों का, सध रहा यों स्वार्थ नित है ॥

दीन पीड़ित प्राणियों की, वेदनाएँ चिर कराहें ।
कर रहीं आह्वान मेरा, आज रौरव यातनाऐं ॥

यज्ञ के मिस हो रहा जो, दुष्ट जन का स्वार्थ-साधन ।
मुझे जिसका पूर्ण करना, धर्म के हीं पंथ विघटन ॥

मैं न हिंसा को मिटाना, चाहता हूँ हिंस्र जल से ।
मैं बुझाऊँगा अनल यह, मृदु अहिंसा के सलिल से ॥

अतः मुझको इष्ट अब है, नहीं परिणय यह रचना ।
ब्रह्मचर्यादर्श मुझको, विश्व के हित हैं दिखाना ॥

मूक थीं त्रिसला सुदेवी, किन्तु नृपवर ने कहा यों ।
'राज्य का आदर्श भी तो, तुम्हें रखना चाहिये यों ॥'

किन्तु सन्मति ने कहा यों, 'राज्य तो संसार बन्धन ।
नित बढ़ाता और रचता, कर्म का यह जाल क्षण-क्षण ॥

राज्य-लिप्सा, भोग लिप्सा, मिटी किसकी इस जगत में ।
अग्नि यह वह जो धधकती, द्रव्य हित ही हर समय में ॥

है बुझी कब प्यास तृष्णा, प्राणियों की किसी विधि भी ।
गृहण करता सरित जल नित, तृप्त पर जल-निधि कभी भी ?

चक्रवर्ती भी नृपति-गण, कहाँ इस जग में रहे हैं ।
मृत्यु से ही हार खाकर, अन्त में जग से गये हैं ॥

भाग्य से पाया कहीं यह, मनुज-तन का उचित साधन ।
क्यों न फिर मैं कर्म-क्षय हित, करूँ मुनिव्रत का प्रसाधन ॥

इस तरह से जीव के हैं, छूट सकते कर्म सारे ।
पहुँच सकता इस तरह वह, विश्व-जल-निधि के किनारे ॥'

नृपति त्रिसला देखते मुख, मौन आपस में हुए अब ।
कहा नृप से किन्तु सहसा, सचिवर ने शान्त नीरव ॥

'आर्य ! अब तो व्यर्थ लगता व्याह हित इनको मनाना ।
ये विरागी, रोककर अब, व्यर्थ इनका दिल दुखाना ॥

सुखी अब हो नहीं सकते; ये गृहस्थी-जाल में हैं ।
और इनको देख उन्मन; हम न रह सकते सुखी हैं ॥'

'शुभे ! कहतीं ठीक इसको, साम्य-ऋजुता से पगा मन ।
और भोगों के घृणित जग, से भगा इनका सु-चेतन ॥

नीड़ शाश्वत, प्राप्त-हित हृद,-- है हुआ इनका सु-जागृत ।
दुखी जीवों को सु-करुणा, दान देने को समुद्यत ॥

नृपति का सुन यह सुउत्तर, राज्ञिवर बोली स्व-सुत से ।
'मैं नहीं अब रोक सकती, पुत्र प्रिय तुमको सु-पथ से ॥

किन्तु ममता एक मेरी, जग रही है कष्ट कैसे ।
तुम सहोगे शीत, वर्षा, ग्रीष्म के दुख बज्र जैसे ॥

'किन्तु मात विवेक शीला, भूलतीं तुम इस जगत में ।
नर्क-से दुख महा रौरव, सह चुका बहुवार हूं मैं ॥

ये न दुख उन-से भयाभय, मरण-जन्मों के जटिल-से ।
फिर न माँ तव पुत्र ऐसा, जो डरेगा संकटों से ॥'

'जानती सन्मति तुझे मैं, जन्म से तू साहसी है ।
और तेरे धैर्य से ही, बँध रही हिम्मत मुझे है ॥

मोह का आवेग सच यह, जो कि निकले वचन ऐसे ।
तुम कहीं जाओ जगत में, कामना बस रहो सुख से ॥'

कण्ठ भर आया सु-माँ का, किन्तु साहस कर कहा यह ।
'केवली हो जब करोगे -- विश्व-हित, होगा सु-दिन वह ॥

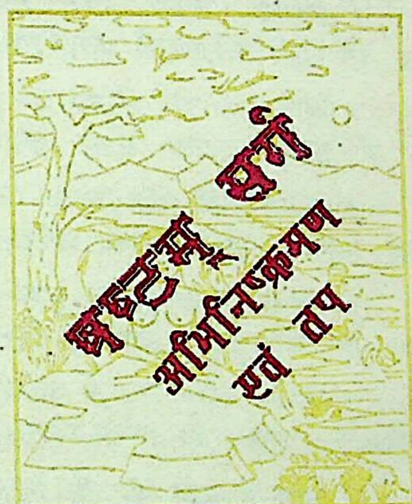
'धन्य माँ श्री धन्य !' सहसा, विनत सन्मति सहज बोले ।
'धन्य आर्यादर्श महिला' नृपति मुख से शब्द निकले ॥

भाव गद्गद् थे सभी के किन्तु नृप भर स्वांस बोले ।
'वत्स ! मम स्वीकृति तुम्हारे, हित सफलता द्वार खोले ॥

राज्ञि-नृप किस हेतु आए, और अब क्या होगया है ।
है सु-बलिहारी समय की, यह विचक्षण क्षण नया है ॥

'चिर ऋणी हूँ आपका मैं' विनययुत थे वीर बोले ।
कहा तदनन्तर उन्होंने परम श्रद्धा भक्ति घोले ॥

'धन्य पिता जी धन्य जननि मम,
धन्य, धन्य आदर्श ललाम ।
धन्य भाग्य मम मिले आप सम,
मात-पिता अनुपम अभिराम ॥'


खण्ड : चार
अभिनिष्क्रमण
एवं तप

हो गया समरस सवेरा, फैलता आलोक ।
रागतम छिपता दिखाता; चिर विरति का लोक ॥
जागते अब नींद से सन्मति, कि उगता सूर्य ।
है लगा उनको बुलाते, साधना के तूर्य ॥
'ओम् सिद्धार्हन्त वन्दन', शीश विनत सभक्ति ।
पूर्ववत् फिर जग उठी वह, भावपूर्ण विरक्ति ॥
चल धरूँ अब साधु दीक्षा, सोचते यों वीर ।
जिन्दगी हो पूर्ण, काटूँ कर्म की जञ्जीर ॥
धन्य मैं जो मात-पित ने, की मुदित स्वीकार ।
मम तपस्या-प्रार्थना भी, अब न सोच-विचार ॥
कर रहे जब चिन्तवन यों, वीर निज में लीन ।
प्रशम लौकान्तिक सुरपगण, आगए रति-हीन ॥
आ किया वन्दन, विनय युत शान्त वे मतिमान ।
और बोले, 'धन्य स्वामिन् आप हैं धीवान ॥
आपने यह सत् विचारा, है अथिर संसार ।
सार इसमें है नहीं कुछ, मोह का आगार ॥
आपने मुनिव्रत गृहण का, दृढ़ किया सु-विचार ।
जन्म सार्थकता मनुज की, मोक्ष का यह द्वार ॥
है न मिलता यह मनुज भव बार-बार सदैव ।
साधना सम्भव इसी में यहीं मिटता दैव ॥

कर्म का वह आवरण जो, किए आत्म मलीन ।
साधना से यहाँ होते घातिया सब क्षीण ॥

आप स्वयं विवेक आलय, धन्य मानव-रत्न ।
जा रहे करने स्व-पर हित, प्राप्य दुर्गम यत्न ॥

काम को इस तरुण वय में, कर रहे विभु नष्ट ।
हो रहे आक्रान्त जग-जन, है इसी से भ्रष्ट ॥

आपकी सतदृष्टि अन्तर, दूर सब दुर्भाव ।
साधना के हेतु केवल, जग रहा चित चाव ॥

आपके सद्भाव हमको नाथ ! लाये खींच ।
आप सचमुच हैं सफल जन छोड़ते जग कींच ॥

देव दर्शन आपके कर दूर इच्छा भार ।
धन्य हम सौभाग्य पाया, 'दर्श' का उपहार ॥

आपसे निर्मल हमारे, भी बने सु-विचार ।
है सहज जिससे सदा ही, आत्म का उद्धार ॥

आगए सन्मति पिता-माँ, वे वहाँ पर साथ ।
वीर सुरगण ने जिन्हें लख नत किये निज माथ ॥

देव बोले—'आप पितु-माँ, के उभय आदर्श ।
धन्य, अनुमति आपने जो, दी इन्हें सह-हर्ष ॥'

ये धरेंगे साधु दीक्षा, आत्म में क्रिय माण ।
आत्म हितकर ये करेंगे, विश्व का कल्याण ॥

मौन थे सन्मति कि बोले, भूपवर सिद्धार्थ ।
'यह समझ हमने न रोका, स्व-पर कल्याणार्थ ॥'

'आप हैं मतिमान नृपवर, दूर दृष्टा विज्ञ ।
है तभी इनको न रोका, आप देव न अज्ञ ॥'

देवगण ने नृपति उत्तर -- में कही यह बात ।
फिर कहा-'अब जा रहे हम, स्वर्ग को अवदात ॥'

और तदनन्तर किया फिर, भक्ति सहित प्रणाम ।
नृपति, रानी, वीरवर को, सुर गए निष्काम ॥

बाद लौकान्तिक-गगन के, सुदृढ़ वीर विराग ।
जग गया अब तो हृदय में, भाव समरस त्याग ॥

वीर बोले – 'पूज्य पितु-माँ, करूँगा प्रस्थान ।
सोचता निज वस्तुओं को मैं करू सब दान ॥'

नृपति बोले ठीक है यह, दान की सद्वृत्ति ।
सोचते हम और भी कुछ दान दो सम्पत्ति ॥'

भूप, त्रिसला, वीर के अब, इस सु-निश्चय रूप ।
दानशालाएँ गईं खुल, बहुत बृहत अनूप ॥

मुक्त हाथों बट रहा है, दान चारों ओर ।
दान-द्रव्यों का न फिर भी, आ रहा है छोर ॥

पुस्त अब दर पुस्त तक को, प्राप्त सबको द्रव्य ।
चल रही चर्चा चतुर्दिक, दान यह तो भव्य ॥

वीर के वैराग्य का भी, प्रकट पुर में वृत्त ।
मोहवश व्याकुल हुए सब, नगर जन मृदु चित्त ॥

किन्तु सन्मति सौम्य मुद्रा, हृदय अति गम्भीर ।
निकट जिनके मोह युत जन, विगत मोह-समीर ॥

जब चले सन्मति विपिनि को, साथ उमड़ी भीड़ ।
ज्यों कि पंछी जा रहे हों, छोड़कर निज नीड़ ॥

करुण सागर-सा उमड़ता, जा रहा चहुँओर ।
मन व्यथित-से दिख रहे जन, दुख रहा झकझोर ॥

वीर-आकर्षण-खिचे-से, साथ जाते व्यक्ति ।
रोकने पर भी न रुकते, वीर प्रति अनुरक्ति ॥

पगे उनमें जा रहे हैं, तरुण बालक बृद्ध ।
मोह तज पर वीर जाते, हृदय करने शुद्ध ॥

किन्तु नायक का भला क्यों, व्यक्ति तज दे संग ?
चिर सहायक व्यक्ति की क्यों, प्रीति कर दें भंग ?

जब कि पहुँचे नगर बाहर, लौटने के अर्थ ।
कहा सन्मति ने विनय युत, किन्तु सब कुछ व्यर्थ ॥

साथ आये विदा करने मात-त्रिसला-भूप।
वचन कहने को समुद्यत, कण्ठ गद्गद् रूप॥

अतः समरस शान्त सन्मति, ने कहा गम्भीर।
'दूर पुर से आगए अब, लौटिये घर धीर॥

योग और वियोग का तो, इस जगत में खेल।
कब रहा संयोग सब कुछ, काल देता ठेल॥

आप ज्ञानी सोचिए यह, मोह का उद्वेग।
जो विकल कर रहा सबको, व्याज्य वह आवेग॥

नृपति ने साहस सहित तब, कहा-'नागर बन्धु!
व्यर्थ अब तो है बढ़ाना, मोह का दुख-सिन्धु॥

जा रहे यह तो सुपथ पर, है न दुख की बात।
चिह्न इनके त्याग के कुछ, जन्म से ही ज्ञात॥

आज आया समय वह जब, यह रहे सब त्याग।
जा रहे क्रियमाण करने, सफल विश्व-विराग॥'

भूप की यह बात सुनकर, मौन थे सब लोग।
दिख रहे अति तुच्छ सबको, अब जगत के भोग॥

मात त्रिशला ने कहा तब, धार उर में धीर।
'तुम सफल हो कामना बस यही अन्तिम वीर॥'

'धन्य श्री मात-पिता तव ज्ञानपूर्ण विवेक।
धन्य मैं हूं आपको पा, सफल जन्म अनेक॥

क्षमा त्रुटियाँ कीजिये सब, जान अपना बाल।'
कह रहे जब बात यह सुर–आगए तत्काल॥

पुष्प वर्षा हुई नभ से, वीर का जयनाद।
प्रति-ध्वनित तब किया सबने, गुञ्जरित सुनिनाद॥

किंतु समरस आत्म दृष्टा, वीर नें सविवेक।
सौम्य अमृत-रस-घुले-से, कहे शब्द कुछेक॥

'सूर्य ढलता जा रहा अब, लौटिए जन-वृन्द।
तोड़िए अब तो सु-जन जन मोह के दृढ़ फन्द॥'

धार तदनन्तर उन्होंने, माँ-पिता प्रति भक्ति।
क्रिया अन्तिम विदा वादन क्षीण ममता शक्ति ॥

दिया आशिष माँ-पिता ने, 'हो, सफल मम पुत्र!
लक्ष्य हो तव पूर्ण जीवन – का खिलें शत पत्र ॥'

शेष पुरजन से विदा भी, माँगकर श्री वीर।
थे समुद्यत वन-गमन को, हृदय अति गम्भीर ॥

इन्द्र ने इतने समय में, पालकी अभिराम।
की उपस्थित था कि जिसका, चन्द्रप्रभ शुभ नाम ॥

वीर किञ्चित मुस्कराये, और बोले, 'इंद्र!
कष्ट इतना कर रहे क्यों, आप सौम्य सुरेन्द्र!'

इन्द्र बोला, 'आपका यह, सुभग-सुकृत प्रभाव।
जो कि मेरे हुये आने, के यहाँ सद्भाव ॥

राज्य-जिसके लिए करते व्यक्ति हैं उत्पात।
भरत-बाहूबलि कि जिसके हित लड़े हो भ्रात ॥

तथा कैकेयी जननि ने, स्व-सुत-हित कर आश।
दिया रघुवर को चतुर्दश, वर्ष का बनवास ॥

महाभारत का समर भी, राज्य के ही अर्थ।
हुआ जिसमें हुए अगणित, दर्दनाक अनर्थ ॥

उसे छिनकी रेंट-सा तज, जा रहे हैं आप।
देव! इससे और गुरुतर बात क्या निष्पाप?

धन्य है निज भाग्य पाया, जो कि ऐसा योग।
आपके दर्शन सुश्रूषा, का मिला संयोग ॥'

इंद्र आग्रह देखकर, श्री वीर बैठे शांत।
चन्द्रप्रभ पालकी भीतर, सौम्य अद्भुत कांति ॥

हुए जय के नाद सहसा, गुञ्जरित भू-व्योम।
उच्च यह उद्घोष, बोले ज्यों सभी के रोम ॥

श्याम दशमी माह मगसिर, की सु-सांध्य ललाम।
चल दिए वन पालकी में, वीरवर निष्काम ॥

और लौटे स्व-पुर नागर, नृपति राज्ञी साथ ।
किंतु त्रिशला-नन्द सन्मति, अब न उनके साथ ॥

थी विचित्र दशा सभी की, क्या कहूँ उपमान ?
कभी आकुल कभी समरस, जान कभी अजान ॥

उधर समतापूर्ण सन्मति, जा रहे गतिमान ।
ज्ञातृखण्ड सु-विपिन पहुँचे, कामहत धृतिवान ॥

हुए त्यागी त्याग भूषण, वस्त्र वे दिग्वेष ।
और लुञ्चित किए सारे, पञ्चमुष्ठी केश ॥

'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कह वह शिला पर शांत ।
मुख किये उत्तर विराजे, वीरवर सम्भ्रान्त ॥

सांध्य का ढलता समय यह, स्वर्ण-सा स्वयमेव ।
विनय वंदन कर गये वे, स्वर्ग को सब देव ॥

अब परिग्रह का न सन्मति – पर रहा कुछ लेश ।
मान, माया, लोभ रति भय, आदि सब निःशेष ॥

सूर्य अस्तंगत हुआ-सा, फैलता तम-जाल ।
वीर थे पर साधना-रत, भूल सब जग-हाल ॥

वे वहाँ बैठे अचल-से, मूक नीरव गात ।
ध्यान ही साकार हो ज्यों ध्यान में निष्णात ॥

आत्मिक सत् दृष्टि उनकी, बाह्य दृष्टि विहीन ।
आ रहे अब हैं न उर में, भाव कियत मलीन ॥

सघन होती जा रही है, अब अँधेरी रात ।
किंतु सन्मति के लिये यह, है न भय की बात ॥

वे नहीं उद्विग्न किञ्चित, कर रहे कुछ याद ।
ले रहे वे तो अलौकिक आत्म का सुख स्वाद ॥

समय जैसे बढ़ रहा है, जम रहा है ध्यान ।
वीर का अंतर्जगत है शांत साम्य महान ॥

ध्यान में आरूढ़ इनको देख कुछ निष्पन्द ।
तारिकाएँ क्या गगन में, मुस्कातीं मंद ?

किन्तु सन्मति के नयन तो, रूप जग से बंद ।
वे न सुनते अब तनिक भी, लोक के छवि-छंद ॥

भूख-प्यास न तनिक उर में, कर सकी कुछ खेद ।
भूलकर सब ध्यान में रम, भाव हैं निर्वेद ॥

रात आई ज्योंकि इनको, जो डराने हेतु ।
जा रही निष्फल न पाया, चिर विजय का केतु ॥

छा रही प्राची क्षितिज पर, लालिमा मुस्कान ।
रवि उदय की स्वर्ण किरणें, फैलतीं अम्लान ॥

कर रहीं जो वीर का ज्यों, हैं सुभग अभिवाद ।
किंतु सन्मति लीन योगी, दूर हर्ष-विषाद ॥

सूर्य-किरणालोक में मुख, कांति पूर्णापूर्व ।
साम्य-दिनकर ज्योति मय-सा, छवि न ऐसी पूर्व ॥

फुदकते से गा रहे अब, खग प्रभाती गान ।
किंतु सन्मति को न कुछ भी, लोक का है भान ॥

तीन दिन के ध्यान का था, शुभ किया संकल्प ।
एक आसन में वहीं दृढ़, कर रहे अविकल्प ॥

भ्रू न हिलती दृष्टि भी थिर – नाशिका के अग्र ।
आधि व्याधि उपाधि उनको, कर न पाई व्यग्र ॥

समय भगता जा रहा है, ध्यान में वे लीन ।
कर्म का आना रुका हैं, ऐषणाएँ क्षीण ॥

हो गई पूरी अवधि अब, तीन दिन की सर्व ।
दृग प्रशम वे पारणा-हित, चल दिए बिन गर्व ॥

समिति ईर्या पालते वे, जीव-रक्षा-भाव ।
दब न जावें जंतु लघु भी, हो न उनके घाव ॥

बिन निमंत्रण ही चले वे, पारणा के अर्थ ।
ध्यान उनको निज क्रिया से हो न घटित अनर्थ ॥

जा रहे उस ओर अब वे, है जिधर कुल ग्राम ।
ज्ञातृ कुलनायक जहाँ के भूप का है नाम ॥

कुल नृपति ने भक्तियुत हो, कर सविधि सु-विचार।
था दिया सन्मति सु-मुनि को, क्षीर रस आहार ॥

कर रहे जब पारणा विभु, देव दुँदुभिनाद।
पुष्प वर्षा, रत्न वर्षा और जय-जय नाद ॥

हो उठा सहसा वहाँ पर, दिव्य यह सौन्दर्य।
लो बहा सुरभित मरुत भी, पञ्च ये आश्चर्य ॥

धन्य कुल नृप ने दिया जो, शुद्ध शुभ आहार।
वीर-से सत्पात्र मुनि को, धन्य यह सत्कार ॥

पारणा पश्चात लेकिन, बन गए मुनि वीर।
साधना में रत हुए जा, वे कहीं घर धीर ॥

ध्यान करते एक स्थल पर, तीन दिन गम्भीर।
फिर भ्रमण कर दूसरे स्थल, जा पहुँचते वीर ॥

इस तरह दृढ़ मोह बन्धन, हो न पाते पुष्ट।
इस तरह सम प्राय रहता, सौम्य जीवन-पृष्ठ ॥

किंतु वर्षा काल में वे, एक ही हाँ स्थान।
चार मासों तक निरंतर, साधते हैं ध्यान ॥

हो विराधित नहीं जिससे, जीव-राशि अपार।
कीट-कृमि, तरु घास का जो, रूप लेती धार ॥

और जिससे कर्म-आश्रव, हो न कुछ अनजान।
इसलिये करते न मुनिवर, अन्य स्थान प्रयाण ॥

वीर करते साधना सब, भूल जग जंजाल।
यातनायें भी न उनको, कर सकीं बेहाल ॥

भूख की पीड़ा न उनका, कर सकी कुछ ह्रास।
मास छः छः मास के वे, माड़ते उपवास ॥

पर क्षुधा भी थी न उन पर; पा सकी कुछ जीत।
क्षीण होता था कलेवर, पर न मन भयभीत ॥

आत्म-द्रष्टा जानते वे, नाशवान शरीर।
आत्म निज शाश्वत सदा ही, फिर बनूँ न अधीर ॥

इसीविधि ही सोचकर वे, जीतते हैं प्यास ।
सूखता जब कण्ठ होते, तब न तनिक उदास ॥

वेदनीय दु-कर्म का यह, जानते विस्तार ।
है जिसे करना उन्हें यों, आत्म से ही क्षार ॥

जब कि जाड़े हैं कड़ाके–की गिराते शीत ।
सिकुड़ते जन जब कि कहते, 'है विकट यह शीत ॥'

जब कि जमती नदी, होती–उपल की भी वृष्टि ।
जब नहीं कोहरे को भी, पार करती दृष्टि ॥

अग्नि की जब शरण लेते, वस्त्र पहने व्यक्ति ।
और सी-सी तदपि करते, स्व-तन में अनुरक्ति ॥

योगि सन्मति सरित-सर-तट, माढ़ते तब योग ।
पूर्व के यों कर्म-मल का मेटते संयोग ॥

और जब है ग्रीष्म आती, भूमि बनती तप्त ।
सूखते सर-नदी-नाले, सलिल होता लुप्त ॥

सूर्य किरणें ज्वलित शोलों–सीं बरसतीं उग्र ।
विहग भगते छोड़ अण्डे, प्यास में अति व्यग्र ॥

जब कि चलती अनल-सी लू, झुलसता संसार ।
जब न करते मनुज, पशु, खग एक पग संचार ॥

वीर तब संतप्त गिर-शिर, धारते हैं ध्यान ।
पूर्व कर्मों के समिधि को, दग्ध करते जान ॥

डाँस मच्छर, कनखजूरे, सदा देते त्रास ।
पर न सन्मति कभी भरते, दुख भरा उच्छ्वास ॥

शेर चीते लकड़भग्गे, हिंस्र जन्तु विहार ।
कर न पाता कभी उनमें, भीति का सञ्चार ॥

सौम्य मुद्रा और उनका, परम ऋजु आचार ।
सर्वहित करुणा सभी में, वैर करती क्षार ॥

कहीं मच्छर काट लें तो, व्यक्ति कहते 'क्लेश' ।
वीर होते पर न बेकल, लोक-बुद्धि न शेष ॥

बाह्य-भीतर से परिग्रह, ग्रन्थि-हत दिग्वेष ।
वासना के चिह्न उनमें, थे न किञ्चित शेष ॥

बाल से वे निर्विकारी, कामनाएँ भूल ।
नग्न रहते परिग्रह तज, दुःख का जो मूल ॥

बासना रहती हृदय में, और बाहर लाज ।
घर न पाता अतः दीक्षा, नग्न लोक-समाज ॥

किन्तु सन्मति आत्म-शासक, विगत इच्छा-काम ।
मानवी कमजोरियों पर, विजय वे अभिराम ॥

योग और वियोग में वे, सदा समरस भाव ।
अरतिमय उनका हृदय-मन, प्रशम सम्यक् भाव ॥

मोहनीय चरित्र कर्मावरण -- यों चकचूर ।
किया करते नित्य सन्मति, यत्न यों भरपूर ॥

रमणियों में वान प्रस्थी, भी बने अनुरक्त ।
बात क्या फिर अन्य की पर वीर पूर्ण विरक्त ॥

रूपसी-सौन्दर्य-वैभव, पर न सन्मति मुग्ध ।
धवल उनका चरित पावन, श्वेत-सा ज्यों दुग्ध ॥

वीर चर्या के विकट दुख, भोगते सम-भाव ।
घूमते जो पालकी में, आज नंगे पाँव ॥

मार्ग कंकड और पत्थर, शूल से आकीर्ण ।
अभय चलते पैर होते, कहीं पूर्ण विदीर्ण ॥

किंतु सन्मति को न इसकी, ओर कुछ भी ध्यान ।
निरत होते साधना में, हृदय ऋजु अम्लान ॥

साधना में एक आसन में सदा आसीन ।
कभी विचलित वे न होते, कष्ट के आधीन ॥

एक आसन माढ लेते, गिरि सदृश निष्कम्प ।
चलित उनको कर न पाता, प्रबलतर भूकम्प ॥

कभी हैं वे खड़े होते, अचल कायोत्सर्ग ।
निर्जरा करते प्रशम सह, प्रबल कटु उपसर्ग ॥

फूल-सी मृदु सेज पर जो, शयन करते नित्य।
तथा जिनकी व्यवस्था में, लगे रहते भृत्य ॥

अब कभी वे रात भर भी, शिला पर आसीन।
भूलकर विश्राम, रहते आत्म-चिन्तन-लीन ॥

कभी पिछले प्रहर निशि में, सजग सोते शान्त।
एक करवट से सदा वे, पर न किञ्चित क्लान्त ॥

वेदनीय दु-कर्म का यों, मेटते वे लेख।
और निर्मल आत्म-पद की, खींचते हैं रेख ॥

कोप का आवेग उनको, कर न पाता उग्र।
शान्त हृदय पयोध-सा होता न कुछ भी व्यग्र ॥

कोप-कारण भी न उनमें, उगा पाता क्रोध।
क्रोध-अवसर पर सदा वे, हृदय लेते शोध ॥

सबल होकर भी न उनमें, दृष्टिगत आक्रोष।
साधु जीवन का सु-सहचर, है सुभग सन्तोष ॥

अन्य लेकिन कोप के वश, उन्हें देते त्रास।
पर न बदला-क्षोभ से वे, छोड़ते निश्वास ॥

द्वेष या अज्ञान के वश पीटते जब लोग।
पूर्व अघ-हत-समय सन्मति समझ धरते योग ॥

महाभीषण यातनाएँ, क्रूर वज्र प्रहार।
डिगा पाते पर न उनको, दुष्ट कष्ट अपार ॥

माँगते किञ्चित नहीं वे, किसी से कुछ द्रव्य।
गुरु अभावों में प्रशम वे, साधना यह दिव्य ॥

भूख का आवेग हो या, हो जटिलतम प्यास।
याचना फिर भी न करते, शान्त सहते त्रास ॥

याचना करना बहुत ही, दूर की है बात।
माँगने के भाव तक की, लग न पाती घात ॥

पारणा में यदि कभी भी, हुआ पूर्ण अलाभ।
तो न वे उद्विग्न मुख पर पूर्ववत अमिताभ ॥

अन्तराय दुकर्म का यह जानते परिणाम ।
यों न कहते कुछ किसी से, अन्तरंग अकाम ॥

खेद किञ्चित भी न करते, भाव से गम्भीर ।
और लाभालाभ में यों, सौम्य समरस वीर ॥

यदि असाता के उदय से, होगई कुछ व्याधि ।
तो न वे तजते कभी भी, आत्म-योग समाधि ॥

रोग का आक्रोष उनमें ला न पाता शोक ।
मग्न निज में प्राप्तकर कुछ, आत्म-निधि का लोक ॥

वेदना के कर्म को वे, किया करते ध्वस्त ।
आत्म से तन भिन्न लखकर, आत्म-चिन्तन व्यस्त ॥

गमन करते कहीं चुभता, फैर में यदि शूल ।
को न उसकी व्यथा में कुछ, सोचते प्रतिकूल ॥

आँख में तिनका पड़ा तो, है न कुछ परवाह ।
चोट लगने पर तनिक भी, हैं न करते आह ॥

जान तन को भिन्न निज से, भूलते दुख-भार ।
ध्यान में ही लीन रहते, आत्म-कोष निहार ॥

मैल जम जाता स्व-तन पर, पर न करते ग्लानि ।
लीन तप में वे न पाते, आत्म-निधि की हानि ॥

डाल दे यदि धूल कोई, तो न वे उद्विग्न ।
स्वच्छ कोई तन करे तो, भी न सुख में मग्न ॥

मग्न उनका मानकर दो, तो न कुछ परवाह ।
मान पाने की न उनमें, उमगती चित चाह ॥

सोचते वे यों, न है मम, उच्च तप बल ज्ञान ।
विश्व जन अब तो करें मम श्रेष्ठतम सम्मान ॥

मान या अपमान की यों, है न कोई वृत्ति ।
सौम्य समतामय सादा ही पंथ है निर्वृत्ति ॥

प्रौढ़ प्रज्ञा भी न उनमें, ला सकी अभिमान ।
ऋद्धियों या सिद्धयों का, भी न उनको भान ॥

ज्ञान पाते जा रहे लेकिन, न करते गर्व।
विश्व-जन लघु ज्ञान पा भी, फूलते हैं सर्व॥

कर रहे तप दृढ़ जटिलतम, पूर्ण करने ज्ञान।
पर न केवल ज्ञान पाते, हैं न वे भ्रममान॥

सोचते अज्ञानकर्ता, कर्म है बलवान।
तप न जिसको नष्ट करता, और दृढ़ हो ध्यान॥

अतः ज्ञानावरण कारक, समिधि प्रबल अपार।
सबल तप-ज्वाला जलाकर, उसे करते क्षार॥

धर्म-पथ वे चल रहे जो, आत्म-वस्तु स्वरूप।
वे न शङ्का कियत करते, सत्य श्रद्धा रूप॥

धर्म करते चपल जग-जन, स्वार्थ से संलग्न।
प्राप्त फल होता न, होते, तो न तोष-निमग्न॥

हीन साधन पर न करते, स्वयं शांत विचार।
धर्म को दोषी बताते, भ्रष्टतम आचार॥

पा न सन्मति सिद्धि, लाते -- पर न तुच्छ विचार।
आत्म-अन्वेषण किया करते स्व-त्रुटि-परिहार॥

दृढ़ तपस्या और करते, कर्म करने विद्ध।
आत्म निर्मल कर उन्हें तो, आप होना सिद्ध॥

एक दिन ध्यानस्थ सन्मति, पास ग्राम कुमार।
बैल ले आ रहा कोई, ग्वाल मग्न विचार॥

कार्य उसको याद कोई, आ गया तत्काल।
देख सन्मति को वहाँ तब, शीघ्र बोला ग्वाल॥

'जा रहा मैं गाँव को हूं -- कार्य है अनिवार्य।
देखना मम बैल आता – पूर्ण कर निज कार्य॥

मौन पर सन्मति न बोले – ध्यान में रत भाव।
समझ सम्मति छोड़ युगवृष, वह गया निज गाँव॥

बैल लेकिन हुए ओझल, कहीं चरते घास।
ग्वाल आया तब न देखे, बैल सन्मति पास॥

ध्यान में रत वीर अब भी, ग्वाल पर अति क्रुद्ध।
सोचने वह कुछ लगा विन, बैल वह हत बुद्ध ॥

दूर तक वह देख आया, खोज पर सब व्यर्थ।
कह रहा उसका हृदय 'यह हाय महा अनर्थ ॥

बिना बैलों के न मेरा, चल सकेगा काम।
खाँयगे क्या बाल मेरे, मात्र प्रभु का नाम ॥

भासता कुछ बैल मेरे, ले गये हैं चोर।
क्या इसी का ढोंग, चोरों का यही शिरमौर ॥

छद्मवेषी घात में रहता यहाँ दिन-रात।
चोर चेले ले सटकते, माल ऐसी बात ॥

देख अब भी बैल दे दे, है नहीं कुछ बात।
अन्यथा सहना तुझे होगा प्रबल आघात ॥'

मौन व्रत में लीन उत्तर, में अतः निःशब्द।
ग्वाल उत्तेजित हुआ कहने लगा अपशब्द ॥

कान में ठोका नुकीला, दण्ड जब सुविशाल।
पर निरर्थक बज्र-तन में, वे अचल उस काल ॥

वेदनाकृत कर्म सञ्चित, कर रहे यों नष्ट।
ग्वाल भी आश्चर्ययुत-सा, देख तपमें निष्ट ॥

बैल उसको कुछ दिखाए, झाड़ियों के पास।
चर रहे गरदन झुकाये, जो हरित-सी घास ॥

झट गय गया बैलों निकट वह, भूलकर सब कृत्य।
कर रहा परिताप अब वह, 'क्यों किया दुष्कृत्य ?'

बैल ले आया जहाँ पर, वीरवर ध्यानस्थ।
शीघ्र ही उसने निकाला, दण्ड जो श्रवणस्थ ॥

फिर क्षमा की याचना की, ग्वाल ने नत शीश।
पर तपस्या लीन सन्मति, द्वेष विगत मुनीश ॥

एक दिन सन्मति चले श्वेताम्बि थल की ओर।
भूमि पर थी दृष्टि उनकी शोधते हर ठौर ॥



चण्डकौशिक सर्प इनको, देख क्रुद्ध अपार।
भर उठा भीषण धुआं-सी, विषमयी फुंकार॥
लो, विषैला हो गया थल, वृक्ष का पतझार।
कर सका पर आत्म-योगी का न वह अपकार॥
और इस पर क्रुद्ध विषधर, जान अपनी हार।
वह चला करने जटिलतम, दन्त का दुर्वार॥
पर न इससे लच सकी वह आत्म-शक्ति असीम॥
योग में सब शान्त होते अणु ज्वलित निस्सीम।

जा रहे कारुण्य उर में, सौम्य नीरव गात।
ग्वाल-बालों ने कही तब, मार्ग में यह बात ॥
'देव ! करिए इस न पथ पर, आप तनिक विहार ।
मार्ग में है चण्डकौशिक, सर्प का सञ्चार ॥
दृष्टविष इस सर्प कारण, भस्म होते जीव ।
विष भरा वातावरण सब, विषमयी निर्जीव ॥
जबकि भरता वह भयंकर, प्राण हर फुफकार ।
तब विहग, पशु और नर-तन, शीघ्र होते क्षार ॥
इसलिए उस ओर जाता है न कोई पात्र ।
जा सकी उस ओर बस वह, वायु गतिमय मात्र ॥'
वीर किञ्चित मुस्कराये, फिर हुए गतिमान ।
प्रान्त वह करने अभय वे, चल दिए धृतिवान ॥
सोचते—'विषधर भयङ्कर, किन्तु है बलवान ।
क्रूरता उसकी नशे तो, हो अमित कल्याण ॥
प्राणियों के ध्वंश में जो, शक्ति होती नष्ट।
वह न बदली जा सके क्या, आत्म, जग के दृष्ट ॥
मैं डरूँ क्यों आत्म चिर है, देह जड़ है और ।
जो कि निश्चय नष्ट होगी, काल का है कौर ॥'
सोचते यों ही गए उस, मार्ग पर अतिवीर।
नाग-बिल सन्निकट जा तप-रत हुये गम्भीर ॥
चण्डकौशिक सर्प इनको, देख क्रुद्ध अपार ।
भर उठा भीषण धुआँ-सी, विषमयी फुङ्कार ॥
लो विषैला हो गया थल, वृक्ष का पतझार ।
कर सका पर आत्म योगी, का न वह अपकार ॥
और इस पर क्रुद्ध विष धर, जान अपनी हार ।
वह चला करने जटिल तम, दन्त का दुर्वार ॥
पर न इससे लच सकी वह, आत्म-शक्ति असीम ।
योग में सब शान्त होते, अपर ज्वलित निस्सीम ॥

देख निष्फल सर्व निज बल, वह हुआ हत बुद्ध ।
देखता सन्मति सु-मुख को, जोकि ऋजु शम शुद्ध ॥

वह विनत फण, भक्ति जागी, वीर प्रति अभिराम ।
सुन रहा कुछ शब्द ज्यों अब, कर्ण में निज नाम ॥

'भव्य प्राणी पूर्व दुष्कृत, वश हुए तुम सर्प ।
छोड़ दो सब क्रूरता तुम, छोड़ दो अब दर्प ॥

यों करो कल्याण अपना, आत्म का उद्धार ।'
देखता वह कर रहे अब, योगिराट् विहार ॥

और इस दिन से कभी वह, है न होता क्रुद्ध ।
सत्प्रकृति उसकी दिखाई – दे रही अविरुद्ध ॥

फिर गये उस प्रान्त सन्मति, लाढ़, जिसका नाम ।
साधना में रत हुए, वे मौन हैं निष्काम ॥

बस रहीं कुछ जातियाँ हैं, हिंस्र दुष्टानार्य ।
वे समझती शत्रु उनको, जातियाँ जो आर्य ॥

देख सन्मति को वहाँ पर, क्रूर जन अति क्रुद्ध ।
कर उठे दुष्टाचरण वे शीघ्र वीर विरुद्ध ॥

एक दिन तो वीर पर छोड़े – शिकारी श्वान ।
पर न किञ्चित वीर चञ्चल, वे निरत निज ध्यान ॥

और जितने त्रास सम्भव, दे रहे सब क्रूर ।
अन्त में देखा कि ऋषिवर, द्वेष से पर दूर ॥

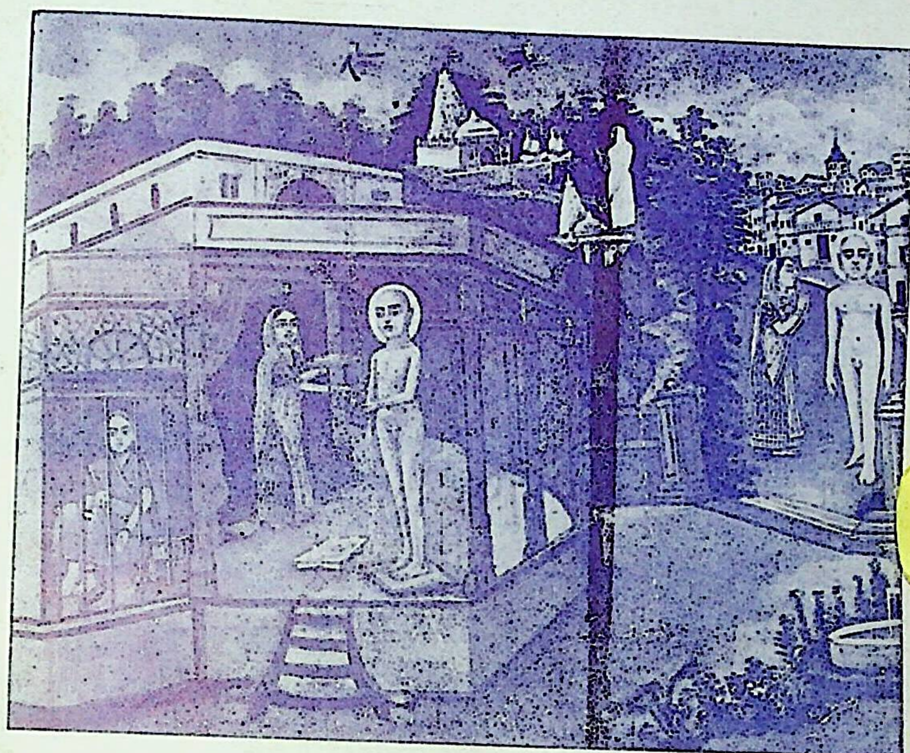
भूल सहसा ही गए वे, क्रूरता का भाव ।
दिख रहा अब तो अहिंसा, प्रति हुआ कुछ चाव ॥

वीर की यह साधना सम भाव होती मूक ।
पर सुनाई है यहाँ पड़ती मनुजता-कूक ॥

निज भ्रमण में वीर कौशाम्बी नगर के पास ।
शान्त पहुँचे घूमते वे, मेटते जग-त्रास ॥

सौम्य कौशाम्बी नगर में, पारणा के अर्थ ।
थे चले सन्मति सकारण, घूमते न निरर्थ ॥

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर



चन्दना दासी कि जिसके थे मुड़े सब केश ।
सेठ वृषभसेन-पत्नी ने किया दुर्वेश ॥

बन्धनों में पड़ी दुखिया, सुन रही जयकार ।
पारणा हित-वीर, समझी आरहे इस द्वार ॥

भाव स्वयमाहार देने के हुए उत्पन्न ।
किन्तु उसकेपास था वह मात्र कोदों अन्न ॥

xxx xxx xxx

वीर लेने को समुद्यत भक्तियुत आहार ।
बेड़ियां सब आप टूटीं पुण्य का संचार ॥

xxx xxx xxx

आज दासी-हाथ प्रभु ने जो लिया आहार ।
हो गई यों क्रांति जग में दीन महिलोद्धार ॥



देख महिला दुर्दशा, दासत्व का उपहास ।
नारियों का बेचना, हा ! यह मनुज ह्रास ॥

वीर ने ली यह प्रतिज्ञा, आज का आहार ।
मैं करूँ दासी तिरस्कृत, के यहाँ स्वीकार ॥

जो कि बन्धन में पड़ी हो, शिर मुड़ा विन वाल ।
मूक रोती-सी कि जिसका, हो वुरा यों हाल ॥

और कोदों नाज का बस, दे मुझे आहार ।
आज उसका भक्तियुत, स्वीकार हो उपहार ॥

जा रहे अब वीर पुर में, बोलते जय लोग ।
सोचते आहार देने, का मिलेगा योग ॥

किन्तु राजा और सेठों, के ग्रहों के द्वार ।
वीरवर हैं छोड़ जाते, आज तो हर बार ॥

चन्दना दासी कि जिसके, थे मुड़े सब केश ।
सेठ वृषभसेन-पत्नी ने किया दुर्वेश ॥

बन्धनों में ग्रस्त दुखिया, सुन रही जयकार ।
पारणा-हित वीर समझी, आ रहे इस द्वार ॥

भाव स्वयमाहार देने, के हुए उत्पन्न ।
किन्तु उसके पास था वह, मात्र कोदों अन्न ॥

पारणा लेकिन कराने, का किया सु-विचार ।
भक्तिवत् आहार देने, को खड़ी तैयार ॥

पूर्ण हर्षोल्लास मुख पर, दिख रहा सुख पूर्ण ।
वीर आए इस तरफ भी, शान्ति शम परिपूर्ण ॥

भक्ति से पड़ता उठी वह, सौम्य शृद्धाभाव ।
विभु रुके चरण बढ़े फिर, कौन सा दुर्भाव ॥

रो उठी अब चन्दना, वह कोसती निज भाग्य ।
दे न वह आहार पाई, कौनसा दुर्भाग्य ?

वीर ने जा दूर देखा, घूम पीछे-ओर ।
रो रही वह चन्दना है, दुख रहा झकझोर ॥

शीघ्र लौटे वीर स्वामी, पूर्ण रुदनाभाव ।
निज प्रतिज्ञा रूप अब तो, दिख रहे सब भाव ॥

वीर लेने को समुद्यत, इसलिए आहार ।
बेड़ियाँ सब आप टूटीं, पुण्य का संचार ॥

कर रहे हैं पारणा अब, वीर समता भाव ।
दिव्य पञ्चाश्चर्य दर्शित, यह सु-कृत सद्भाव ॥

आज दासी हाथ प्रभु ने, जो लिया आहार ।
हो गई यों क्रान्ति जग में, दीन महिलोद्धार ॥

वीरवर लेकिन गए वन, साधना के हेतु ।
बाँधने वे इस जगत से, मुक्ति तक का सेतु ॥

एक दिन गंगा नदी के, रेत पर से वीर ।
एक तरु के पास पहुँचे, ध्यान धरने धीर ॥

खिंच गए सिकता धरणि पर, आप युग पग-चिह्न ।
ज्योतिषी निकला जहाँ से, देखता ये चिह्न ॥

नाम था पुष्पक कि जिसका, रेख पग की देख ।
सोचता यह चक्रवर्ती, भूप जैसी रेख ॥

और फिर पुस्तक निकाली, जो बगल में साथ ।
देखता उससे मिलाकर, पुस्तिका निज हाथ ॥

चक्रवर्ती के चरण ये, थे जँचे सब भाँति ।
सोचता भूला स्व-पथ है, वह मिले किस भाँति ॥

प्राप्त यदि मैं उसे कर लूँ, लाभ लूँ मैं साध ।
यदि हुआ चक्रीश नृप वह, मिले द्रव्य अगाध ॥

यदि न वह चक्रीश अब तक, तो करूँ कुछ यत्न ।
और उसको मैं बनाऊँ—विश्व अधिपत रत्न ॥

इस तरह कुछ हाथ आए, ज्योतिषी यों सोच ।
चल दिया वह खोजता – पग चिह्न से बिन शोच ॥

देखता पग चिन्ह जिसके, ध्यान में वह लीन ।
बाजुओं पर चक्र चिह्नित, वस्त्र से पर हीन ॥

और माथे पर बना भी है मुकुट का रूप।
'भिक्षु यह' कहता हृदय में, 'हो न सकता भूप ॥'
और वह निज पुस्तिका को, ध्वंश करने अर्थ।
है समुद्यत एक दर्शक, देख बोला – 'व्यर्थ ॥
फाड़ते क्यों बन्धु ! पुस्तक – क्या हुई है बात ?'
'क्या बताऊं मित्र !' बोला, ज्योतिषी निष्णात ॥
'ग्रन्थ है यह भ्रान्त यों मैं, कर रहा हूँ भग्न।
ग्रंथ के अनुसार वे यह, व्यक्ति जो है नग्न ॥
चाहिए चक्रीश होना, पर नहीं यह बात।
सत्य हो सकती कभी भी, यह यहाँ है ज्ञात ॥'
किन्तु दर्शक ने कहा – 'ठहरो तनिक मम मित्र।
व्यर्थ ही मत नष्ट कर दो, ग्रन्थ के सब पत्र ॥
नग्न भिक्षुक ये सुनो हैं, कुण्डपुर-युवराज।
तुच्छ इनके सामने हैं, सब जगत का राज ॥
धर्मचक्री ये बनेंगे – तीर्थ के कर्तार।
ये विचक्षण व्यक्ति जग में, शान्ति के आगार ॥'
वृत्त सुन उसको अचंभा-सा, हुआ बिन माप।
लौट निज पथ पर गया तब, ज्योतिषी चुपचाप ॥
वीर पहुँचे एक दिन थे, घूमते उज्जैन।
साधना में लीन कहते, है न कुछ भीं दैन ॥
नाम अतिमुक्तक कि जिसका, शव-दहन संस्थान।
योग प्रतिमा में वहाँ पर, थिर हुए धर ध्यान ॥
स्वर्ग में इस ही समय पर थी चली यह बात।
वीर-सा कोई न जग में, ध्यान में निष्णात ॥
सुर न पर भव रुद्र इस पर, कर सका विश्वास।
वह परीक्षा हेतु आया, कर उठा बहु त्रास ॥
हाँ प्रथम उसने बहुत ही, दैत्यगण विकराल।
थे रचे निज शक्ति माया, से कुडौल विशाल ॥

कष्ट जिनसे दे अमित ही, हो न पाया तुष्ट।
चिंघता हाथी दिखाया, मारने को दुष्ट ॥

पर न इससे वीर अस्थिर, शान्त दृढ़ गम्भीर।
आत्म-दृढ़ता में जड़े-से, व्यर्थ दुःख-समीर ॥

किन्तु इससे देव वह, भव रुद्र अति ही उग्र।
कर उठा उत्पात दुस्तर, वीर वर के अग्र ॥

शीत की ऋतु और उसने, अति किया हिम-पात।
पर रहा निष्कम्प ऋषिवर का प्रबलतम गात ॥

और तब उसने बहाया, तेज झंझावात।
मेघ गर्जन, विद्यु तड़पन, और वर्षाघात ॥

सर्प विच्छू कनखजूरे, जन्तुओं के वार।
क्रूर मायावी उपस्थित, ध्यान करने द्वार ॥

किन्तु इससे योगि सन्मति, हैं न अस्थिर चित्त।
सह रहे उपसर्ग निश्चल, शान्ति समता वृत्ति ॥

रुद्र वे सब कृत्य निष्फल, देख सोची बात।
चाहिए करना मुझे अब, नीति का आघात ॥

इसलिए ही मात त्रिशला, का रखा निजरूप।
और आया पास उनके, छलमयी धर रूप ॥

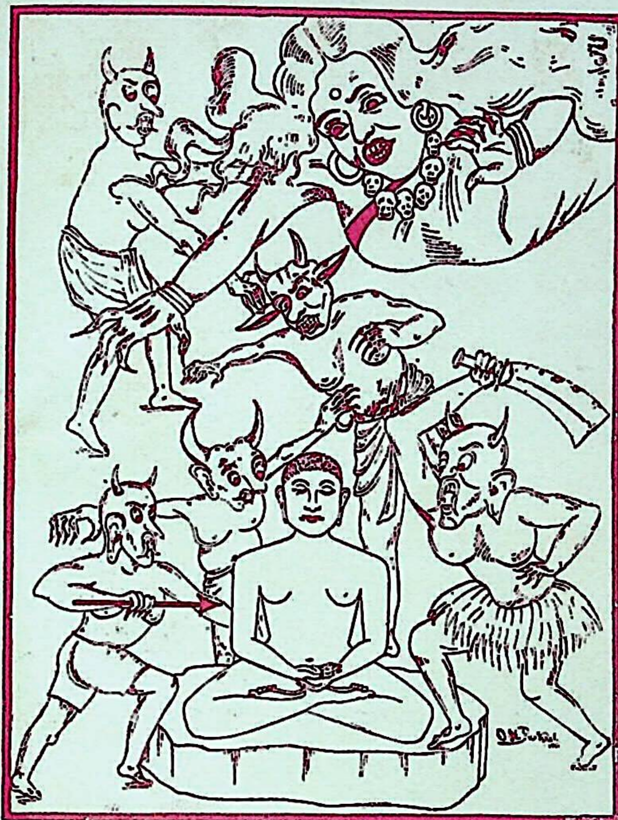
छद्मवेषी सुष्ट बोला—'आह! मम प्रिय नन्द!'
ढूँढ़ती तुझको फिरी मैं, गिरि गुहा सुखकन्द ॥

तव पिता जी आज अन्तिम, भर रहे हैं श्वाँस।
देखने को मुख तुम्हारा, जग रही है आश ॥

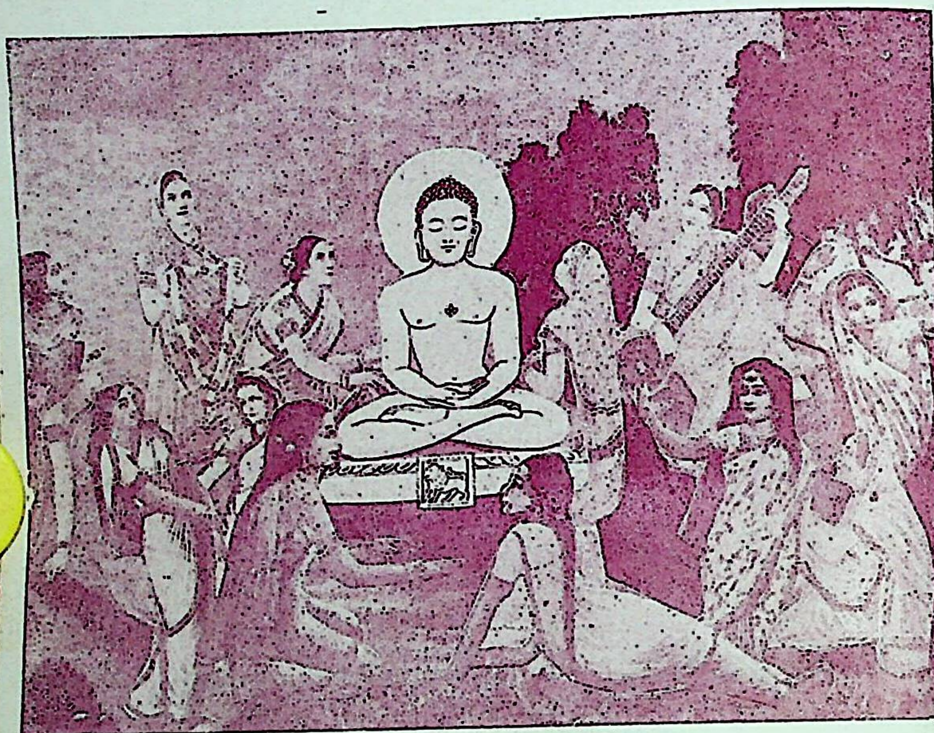
तुम चलो झट पास कर दो, तुष्ट दर्शन-प्यास।'
वीर का तन भी हिलाते, यों कहा भर श्वाँस ॥

आत्म-रत पर वीर ने कब, ये सुने छल-छंद।
वे न मोही अब जगत के, ध्यानरत निर्द्वन्द ॥

मोह-कारक कर्म-दुस्तर, कर रहे यों ध्वस्त।
पा रहे अब तो अहर्निश, शुक्ल ध्यान प्रशस्त ॥



देवता भव रुद्र ने अति
दैत्यगण विकराल ।
थे रचे निज शक्ति माया
से कुडौल विशाल ॥
कष्ट जिनसे दे अमित ही
हो न पाया तुष्ट ।
चिंघाड़ता हाथी दिखाया
मारने को दुष्ट ॥
पर न इससे वीर अस्थिर
शांत दृढ़ गम्भीर ।
आत्म-दृढ़ता में जड़े से
व्यर्थ दुःख-समीर ॥



ला न पाईं देवियाँ, प्रभु-ध्यान पर विश्वास।
वे गईं लेने परीक्षा, अन्त में सोल्लास॥
नव किए शृङ्गार पहुंचीं थे जहाँ पर वीर।
छोड़ने अब तो लगीं वे काम के दृग-तीर॥

xxx xxx xxx

पास चारों ओर उनके कर रहीं वे नृत्य।
गान गातीं, साथ मधुमय वासना के कृत्य॥
यह मादिर मधुमय रसीला स्वर्ग का संगीत।
पर न पाया वीर की यह साधना को जीत॥

हार कर वह देव करने, अब लगा परिताप ।
व्यर्थ इनको ही सताया, साधु यह निष्पाप ॥

इन्द्र कहते ठीक थे, ये तो न शङ्का योग्य ।
उच्च साधक, हाय मैं तो, देव अधम अयोग्य ॥

विश्व विजयी शक्ति मेरी, ऋद्धियाँ उत्कृष्ट ।
आज इनके आत्म-बल के, सामने निःकृष्ट ॥

हाय ! ऐसे साधु जन को, व्यर्थ देकर क्लेश ।
दृढ़ किया अघ-कर्म-बन्धन, अब न यह निःशेष ॥

है शरण अब कौन जग में, पाप-हर अब कौन ?
मैं चलूँ इनकी शरण ही, ये महात्मा मौन ॥

और उसने वीर के पद में नवाया माथ ।
फिर क्षमा वह माँगता है, अति विनय के साथ ॥

किन्तु सन्मति साम्य अन्तस, रागद्वेष अशेष ।
क्रूर उर की ग्रन्थियों से, दूर वे दिग्वेष ॥

जब गया भव रुद्र सुरपुर, तो कही यह बात ।
वीरवर सम तप न जग में, है किसी का ज्ञात ॥

वे मरण से भी न हो सकते कभी भयवान ।
हैं डिगा सकते न उनको, देव या इन्सान ॥

देवियाँ बोलीं तमककर, बस करो भव रुद्र ।
हो चुकी अतिशय प्रशंसा, अब न धैर्य-समुद्र ॥

देव नर ही कर न पाए, भ्रष्ट उनका ध्यान ।
क्या इसी से तुम समझते, श्रेष्ट साधु महान ॥

अप्सराओं के सजीले, रूप यौवन गात ।
क्या न उन पर मुग्ध जो है, नृत्य में निष्णात ॥

स्वर मधुरतम और मधुमय, भावना संगीत ।
क्या न उनको कर सकेगा, तप डिगा मन-मीत ॥

'तव नयन-शर रूप यौवन, योग सम्मुख क्षुद्र ।
कर न पाएँ गे उन्हें चल,' देव बोला रुद्र ॥

ला न पाई देवियाँ इस बात पर विश्वास ।
वे गईं लेने परीक्षा, अन्त में सोल्लास ॥

नव किए शृङ्गार पहुँचीं, थे जहाँ पर वीर ।
छोड़ने अब तो लगीं वे, काम के दृग तीर ॥

पर न इससे विद्ध सन्मति, तप निरत निष्काम ।
वे पुनः करने लगीं तब, नृत्य मृदु अभिराम ॥

पास चारों ओर उनके, कर रहीं वे नृत्य ।
गान गातीं साथ मधुमय, वासना के कृत्य ॥

यह मदिर मधुरिम रसीला, स्वर्ग का संगीत ।
पर न पाया वीर की यह, साधना को जीत ॥

किन्तु इससे अप्सराएँ, हो न पाईं तुष्ट ।
वासना की चेष्टाएँ, कर उठीं अति पुष्ट ॥

सन्निकट जा वीर के वे कर रहीं मृदु स्पर्श ।
कर रही अभिसार-चेष्टा, काम वृत्ति सहर्ष ॥

पर विरागी वीर वर है, मग्न रति-हत ध्यान ।
मूर्तिवत् ही देख निश्चल, देवियाँ हैं रात ॥

वे ठगीं सीं देखतीं अब, है चकित-सें भाव ।
शर्म-सी उनमें समाई, गत हुए दुर्भाव ॥

फिर गईं निज मुँह लिए-सी, देवियाँ ये स्वर्ग ।
किन्तु तप में लीन सन्मति, प्राप्त हो अपवर्ग ॥

स्वर्ग चाहिए नहीं वीर को,
विपदामय संसार ।
उपसर्गों को झेल कर रहे,
कर्मों का संहार ॥


केवलज्ञान एवं
धर्मोपदेश

द्वादश वर्षों तक अति घोर, तपस्या तपकर।
उपसर्गों को झेल, ठेल बाधाएँ दुस्तर॥

पहुँचे जृम्भक ग्राम वीर, ऋजुकूला के तट।
करते नष्ट कर्म-करा हैं, वे तप में डट॥

है बसन्त अपने यौवन की, श्री सुषमा में।
चारों ओर वीर के विकसित, छवि आभा में॥

उत्सव होने वाला क्या, दिखता है कोई?
आज शुष्कता मुदित प्रकृति ने मुख से धोई॥

वातावरण महकता अपनी, रूप-सुरभि में।
किन्तु रम रहे सन्मति तन्मय, निज-परणति में॥

बैठे हैं पाषाण शिला पर, शाल वृक्ष-तर।
वेला माढ़े ध्यान हो रहा, शुभ्र शुक्लतर॥

लो वैशाखी शित दशमी भी क्रम से आई।
घन अज्ञान अमा सन्मति ने, सहज मिटाई॥

मिटे घातिया कर्म-तमस-अणु जन्म जन्म के।
ज्योतिपुञ्ज सन्मति आत्मा में, उदित ज्ञान के॥

हुए वीर सर्वज्ञ ज्ञान, केवल यों पाया।
काश, इसी से हर्ष चतुर्दिक, आज समाया॥

पाना केवल ज्ञान सरल क्या, इस जीवन में?
होते त्रिजग त्रिकाल चराचर, ज्ञात कि जिसमें॥

स्वर्ग लोक में इन्द्रराज ने, अवधि ज्ञान से।
ज्ञात किया समलंकृत सन्मति, पूर्ण ज्ञान से॥

चला धरणि की ओर लिए, निज सारा परिकर।
रोम-रोम से हर्ष विहँसता, सुखकर अवसर॥

लो, समुदाय मोद का ही, ज्यों सजकर आया।
विजय पर्व का जैसे हो, त्योहार मनाया॥

विजय, विजय यह सन्मति की, सच विजय आत्म की।
इससे बढ़कर क्या हो सकती, विजय विश्व की॥

आकर किया अर्चना वन्दन, अमित चाव से।
दिखते पुलकित विनत सभी, अति विनय भाव से॥

जगोपकार हित रचा इन्द्र ने, उपदेशालय।
समवशरण यह, मिली सभी को, शरण साम्यमय॥

समवशरण यह देव कृत्य, अद्भुत पर सुन्दर।
कमल पुष्प-सा छवियुत, संस्कृति-धर्म-सुरभि-धर॥

अग्र भूमि का वर्ण मनोहर, नग नीलम-सा।
कांति निराली वृहत्क्षेत्र का, सच स्वर्गिम-सा॥

दूर जहाँ से जिन-दर्शन कर, सुर नर नमते।
मानांगण क्षेत्र अनुपम-सा, उसको कहते॥

चतुर्दिशाओं में कि जहाँ पर, चार बीथियाँ।
जिनमें मानस्थम्भ देख हत मान-ग्रन्थियाँ॥

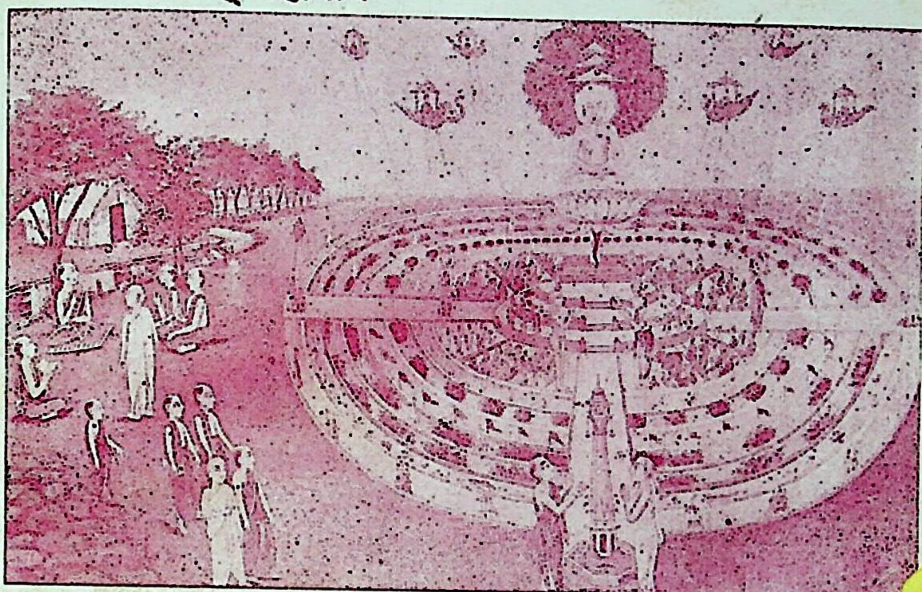
मानस्थम्भों पर शोभित हैं, जिन प्रतिमाएँ।
मोद-भाव से जिनकी करते सुर पूजाएँ॥

होती श्रद्धा घनीभूत है, सत्प्रभाव यह।
आस्थानांगण कहलाता, आस्था-पढ़ाव यह॥

मानस्थम्भों से आगे फिर, चार सरोवर।
जल-पुष्पों से शोभित निर्मल, दिव्य हृदय-हर॥

इससे आगे रजत कोट है, रजत वर्ण का।
जिसके द्वारों पर पहरा है, व्यन्तरगण का॥

तीर्थंकर भगवान् महावीर



जगोपकार हित रचा इन्द्र ने उपदेशालय।
समवशरण यह मिली सभी को शरण साम्यमय ॥

xxx xxx xxx

जिसके चारों ओर सभा-गृह बारह दिखते।
जिसमें बैठ धर्म ध्वनि सुन भवि भय हरते ॥

चार सभाएं साधु आर्यिका पशु मानव की।
शेष कल्प भुव व्यन्तर ज्योतिष देवि देव की ॥

xxx xxx xxx

नवल कली-सी भली बनी उस गंधकुटी पर।
अन्तरीक्ष विभु वीर विराजे विभा विभव तर ॥

शिर पर शोभित तीन छत्र अद्भुत् छवि वाले।
लगते है सर्वज्ञ सर्व दर्शीश निराले ॥



द्वारों से भीतर अगणित ही, सजी ध्वजाएँ ।
लहर-फहर कर जो सन्मति की विजय जताएँ ॥

इससे बढ़कर कोष्ट दूसरा कञ्चन छवि का ।
प्रसरित इसके मिस प्रकाश ज्यों पहले रवि का ॥

द्वारों पर हैं खड़े भुवनवासी सुर प्रहरी ।
फब जाती जिनसे स्वभावतः कान्ति सुनहरी ॥

फिर उपवन है जिसमें दिखते, खड़े कल्प-तरु ।
बने सभागृह जहाँ विहरते देव-साधु-गुरु ॥

कोट तीसरा धवल फटिक-सा, इससे बढ़ कर ।
जिसके द्वारों पर प्रहरी-से, खड़े कल्प सुर ॥

आगे इसके बने लतागृह, सुन्दर-सुन्दर ।
स्थान-स्थान पर दिखते हैं, स्तूप आदि वर ॥

इसके भीतर मध्य भाग में तीन पीठ पर ।
श्री मण्डप है बीच कि जिसके गंधकुटी वर ॥

जिसके चारों ओर सभागृह, वारह दिखते ।
जिनमें बैठ धर्म-ध्वनि सुन भवि भव-भय-हरते ॥

चार सभाएँ साधु, आर्यिका, पशु मानव की ।
शेष कल्प, भुव, व्यन्तर ज्योतिष देवि-देव की ॥

निज स्थानों पर जमें जीव भवि, बाट जोहते ।
चातक-से, ध्वनि-स्वाँत बूँद की ओर देखते ॥

नवल कली सी भली बनी उस गंधकुटी पर ।
अन्तरीक्ष विभु वीर विराजे, विभा-विभव वर ॥

शिर पर शोभित तीन छत्र अद्भुत, छवि वाले ।
लगते हैं सर्वज्ञ सर्वदर्शीश निराले ॥

हैं आहार न नीहारों की कुछ बाधाएँ ।
हैं सशरीरी ईश न जग की कुछ विपदाएँ ॥

नख केशों की वृद्धि हुई इति, जीवन दमका ।
छाया प्रतिछाया न वहाँ पर प्रभु तन चमका ॥

किरणावलियाँ फूट रहीं, जिन-कंचन तन से।
उदित हुआ ज्यों सूर्य विभा मय उदयाचल से॥

मधु पराग-सी प्रभु शरीर से गंध निकलती।
वातावरण सभी अनुरंजित सुरभि महकती॥

दुँदुभि बाजे झनन-झनन से बजते रहते।
मंद पवन इठलाता नभ से पुष्प बरसते॥

कल्पवृक्ष भी पास दार्शनिक सा संस्थित है।
चॅवर ढुर रहे अवसर अतिशय मंगलयुत है॥

किन्तु न अब तक हिली तनिक भी गिरा वीर की।
हुई न वर्षा भव्यजनों पर, वचनामृत की॥

सुबह गया मध्याह्न काल भी बीत गया अब।
तृतीय समय अपराह्न सभा का भी लो नीरव॥

उठा इन्द्र निज हाथ जोड़ कर, खड़ा हुआ तब।
फिर स्व-ज्ञान से बतलाया, जिन-मौन-हेतु सब॥

'यद्यपि हैं वह अंग ज्ञान के धारी मुनिवर।
किन्तु प्राप्त उपयुक्त न अब तक कोई गणधर॥

अतः आप सब रखें धैर्य, कुछ काल शान्त हो।
प्राप्त न जब तक विपुल बुद्धि, गणधर प्रशान्त हो॥'

और गया देवेन्द्र खोजने, जन मेधावी।
हो पाए जो मुख्य मुख्यतम गणधर भावी॥

वह विदेह में गया जहाँ श्रीमन्दर स्वामी।
समवशरण में विद्यमान, अर्हंत निष्कामी॥

ज्ञात किया सर्वज्ञ देव से, इन्द्रभूति द्विज।
जो याज्ञिक पर निकट भव्य, दुर्मति देगा तज॥

होगा गणधर प्रमुख वीर के, समवशरण में।
पाएगा सम्यक् दर्शन जो, वीर-चरण में॥

आया गौर्वर ग्राम मगध में, इन्द्र सोचता।
इन्द्रभूमि गौतम को पाया, जीव-होमता॥

क्रिया काण्ड में निरत जाति-मद में विगलित-सा।
विद्यामद-से रहा सदा जो संचालित-सा॥

चकराया वह इन्द्र देख गौतम की गति यह।
सोच रहा किस भांति करे उसको, वश में वह॥

निकला जन-समुदाय तभी, विपुलाचल जाता।
जहाँ वीर का समवशरण आया, जग-त्राता॥

समझे गौतम यज्ञ-हेतु, नारी-नर आते।
हुये मुदित पर देखा सब, अन्यस्थल जाते॥

ज्ञात किया यह वीर दर्श-हित, भीड़ चली है।
समझा होम-विरुद्ध कहीं यह पाखंडी है॥

सोचा जन-समुदाय यज्ञ से हटता जाता।
अतः शिष्य समुदाय-वृद्धि की आवश्यकता॥

इसी समय आ गया इन्द्र घर, वेष शिष्य का।
विनय सहित सम्मान किया, उसने गौतम का॥

फिर बोला 'श्रीमान्! सु-गुरु मम, श्लोक बताकर।
समाधिस्थ हैं हुये कर रहा, याद सँभल कर॥

किन्तु न इसका अर्थ समझ में मेरे आता।
मिला न कोई जो इसका मतलब समझाता॥

आप अधिक विद्वान ज्ञान के ही जलनिधि हैं।
आप अर्थ बतला सकते, विद्या-वारिधि हैं॥'

श्री गौतम जी अपने मन ही मन मुस्काए।
शिष्य वर्ग सम्बर्द्धन के, शुभ चिह्न दिखाए॥

चिन्तन क्रम में कुछ प्रसन्नता लक्षण दर्शित।
आत्म-प्रशंसा-मग्न, समुत्सुक, शिष्य वृद्धि हित॥

बोले तब वे 'किन्तु रख रहे, शर्त एक हम।
होना होगा शिष्य तुम्हें तव गुरु, को भी मम॥'

सुनकर गौतम-शब्द, शिष्य अति साम्य-भाव से।
बोला स्वीकृति-वचन सोच कुछ विनय-चाव से॥

'मुझे शर्त स्वीकार अर्थ बतलावें, श्रीमन् ।'
पढ़ा एक लघु श्लोक शिष्य ने, जिसमें वर्णन ॥

तीन काल षट् द्रव्य तथा केवल, पदार्थ नव ।
सात तत्व, पंचास्ति काय -- छः लेश्या नीरव ॥

तीन रत्न का सुनकर जिसको, गौतम के मन ।
नौ पदार्थ षट् द्रव्य आदि क्या, भारी उलझन ॥

उलझन पर आवरण डालते, बोले गौतम ।
'चलो अर्थ तव गुरु समीप ही, कर देंगे हम ॥

कारण तुम अल्पज्ञ न कुछ भी समझ सकोगे ।
अर्थ बताने पर अनर्थ ही कर बैठोगे ॥'

सोचा मन में अर्थ बता दूँगा विवाद में ।
शिष्य बनेगा इसका गुरु भी, निज प्रभाव में ॥

कहा शिष्य ने 'उचित यही हो, आप विज्ञ जन !'
कार्य सिद्ध लख शिष्य रूप में, इन्द्र मुदित मन ॥

अग्निभूति, श्री वायुभूति, युग बन्धु साथ ले ।
शिष्य वेषधारी सुरेन्द्र संग, गौतम निकले ॥

पहुँचे वे राजगृह के उस विपुलाचल पर ।
जहाँ वीर का समवशरण आया, जग-हित कर ॥

किन्तु जभी वे पहुँचे, मानस्तम्भ सन्निकट ।
ढहा घरोंदा-सा उनका, मद-किला तुरत झट ॥

गर्व खर्व हो रहा अरे यह चमत्कार क्या ?
समता वातावरण दिखाता निज प्रभाव क्या ?

विनय-भाव अब रंग-ढंग में, टपक रहा है ।
जाति-मान अब अंतरंग से, सटक रहा है ॥

बैठे जाकर वे सब जैसे, नर कोठे में ।
सुना उन्होंने महावीर की, दिव्य गिरा में ॥

'गौतम शंका साल रही है, तेरे मन को ।
मान न पाता तेरा मन, जीवास्तित्व को ॥

छह द्रव्यें क्या नौ पदार्थ क्या, इसकी उलझन।
निश्चय किन्तु अनादि निधन है, जीव स-चेतन ॥

चेतन, पुद्‌गल धर्म अधर्माकाश, काल छह।
द्रव्यों का ही नृत्य दिख रहा, जगती में यह ॥

चित जड धर्माधर्म गगन पंचास्तिकाय हैं।
काल अरूपी ही यह केवल, नास्तिकाय है ॥

जीवाजीवाश्रव बंध सु-संवर, और निर्जरा।
तथा मोक्ष इन सात तत्व का, शासन प्रसरा ॥

सात तत्व में पाप पुण्य यह, दोनों मिलकर।
हो जाते हैं नौ पदार्थ, पद-अर्थ अर्थकर ॥

श्रवण मनोगत भावों को कर, असमंजस में।
गौतम का मन भर आया, पर श्रद्धा-रस में ॥

भक्ति भाव में छके हुए से, शिष्य बन गए।
साथ बन्धु युग वीर चरण में, आज रम गए ॥

चले बनाने शिष्य, शिष्य हो, स्वयं बने अब।
दिव्य नियति का खेल कि अभिनव नाटक नीरव ॥

प्रश्नोत्तर कर विभु से कर ली, धर्म-परीक्षा।
गौतम ने यों उभय भ्रातृ सँग, ली जिन-दीक्षा ॥

हुये ध्यान में लीन और पूर्वाह्न समय में।
ऋषि गौतम ने पाई अपने आत्म-निलय में।

सप्त लब्धियाँ बुद्धि विक्रिया अक्षय तप-रस।
ऊर्ज्ज और औषधि की प्रगटित, ज्ञान प्रशम रस ॥

पुरुषोत्तम ऋषि गौतम की मति अब निर्मल तर।
होती जाती धवल विमल उज्वल, उज्वल तर ॥

धीरे-धीरे योग्य हुए वे, गणधर पद के।
और हुए वे पहले गणधर, वीर-संघ के ॥

खिरी वीर-ध्वनि श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन।
विपुलाचल पर प्रथम देशना का सम्वर्षण ॥

द्वादशांग एवं उपांगयुत, श्रुत पद रचना।
की गौतम ने और बहाया, शारद-झरना ॥

अभिसिंचित जो भव्य-क्यारियाँ, करता बहता।
जिनमें सम्यक् सदाचरण का, पुष्प विहँसता॥

आता जिस पर मोक्ष-सुफल है, पक्व समय में।
चिर सुख, दर्शन, ज्ञान, वीर्य होता स्वोदय में॥

दिव्य सु-ध्वनि यह वर्द्धमान की, सवंगस्य जो।
पक्षपात दुर्भेदभाव-हत, समतामय जो॥

शुभ प्रभात मध्याह्न और, अपराह्न समय में।
होता है वीरोपदेश शुभ समवशरण में ॥

वस्तु स्वभाव धर्म-सद्दर्शन, आत्मोन्नति-मग।
करवा आत्म-प्रतीति खोलते, अन्तर के दृग ॥

दर्शाते जग आदि अन्त विन, नव्य न सर्जन।
नव रचना संज्ञा केवल, स्वरूप परिवर्तन ॥

है प्रति वस्तु अनेक धर्म की, निखिल विश्व में।
यों न सत्य के दर्शन होते, एक दृष्टि में ॥

मिटते वादविवाद जगत के स्याद्वाद में।
सप्तभंग नय दर्शाती 'सत्' निर्विवाद में ॥

निश्चय नय सद्दर्शन से, सिद्धान्त दिखाती।
है व्यवहार दृष्टि सम्यक् चारित्र सिखाती ॥

किन्तु समन्वय में शिवपद का, पंथ सन्निहित।
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित मग, मोक्ष सु-निश्चित॥

है निसर्गतः आत्म, ज्ञान, सुख, वीर्य दर्शयुत।
विकृत अवस्था में जगती में, पर-प्रकर्ष-रत ॥

इच्छा के कारण बन्दी यह, कर्म-जेल में।
निज शाश्वत पद भूल रहा—वसु कर्म मेल में॥

कर्मों के परमाणु नष्ट हों, निखरे चेतन।
हो जिनेन्द्र, हो जाए इसका ज्ञानमयी तन ॥

श्री सर्वज्ञ वचन-किरणावलि से है होता ।
ध्वस्त तिमिर अज्ञान हृदय, मिथ्या-निशि खोता ॥

ज्ञानालोक सहज छा जाता, अन्तस्तल में ।
छिपते पाप-उलूक अनृत -- चमगादर पल में ॥

चोर कषाय न किंयत चुरा पाते, आत्मिक निधि ।
सजग चेतना के प्रहरी रहते हैं सब विधि ॥

आत्मा-चकवे का सारा है शोक, विनशता ।
कारण वह निज परिणति चकवी को पा लेता ॥

मानस-मानसरोवर शीतल धवल सरसता ।
जहाँ विवेक सुहंस सु-गुण-मुक्ता दल चुँगता ॥

शुद्ध भाव का सरसिज सुन्दर सहज विहँसता ।
प्रशम मन्द मकरंद मधुप-सा, उड़ता फिरता ॥

जग के कटु भ्रमजालों से अति ऊपर उठकर ।
चलता साधु-काफिला चिर उन्नति, के पथ पर ॥

वीतराग अरिहन्त वीर का, वृष-विहार वर ।
स्वतः उधर होता रहते, भवि जीव जहाँ पर ॥

जिधर विहार हेतु चलते, सर्वज्ञ जिनेश्वर ।
उधर भूलते वैर विरोधी, पशु, खग, सुर, नर ॥

बिन ऋतु होते वृक्ष मंजरित, कुसुमित फलयुत ।
मानों सजकर प्रकृति सँजोती सन्मति-स्वागत ॥

दल-बादल-सी भीड़ उमड़ती, दर्शन के हित ।
पाती है सब समवशरण में शरण भेद-हत ॥

देव नृपति या अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति न केवल ।
पाते आश्रय वीर-चरण में प्राणी निर्बल ॥

महावीर के सभा सदन में, पशु से प्राणी ।
हैं हकदार श्रवण करने के सम जिन बाणी ॥

महावीर उपदेश सर्वहित, जीव दया मय ।
प्राण-अपहरण किसी भाँति भी नहीं धर्ममय ॥

जियो और जीने दो जग में, सबको निर्भय।
परम अहिंसा धर्म प्रकट करते समतालय ॥

संकल्पी उद्यम-आरम्भी और विरोधी।
हिंसा कार्यों का त्यागी ऋषि साधु अक्रोधी ॥

पर श्रावक-गण भी संकल्पी हिंसा त्यागी।
पूर्ण अहिंसक बनने को रहते अनुरागी ॥

दिखते हैं संघर्ष कलह-विद्वेष जगत के।
एक परिग्रह के कारण मानव-समाज के ॥

हैं उपभोग्य पदार्थ विश्व के, सारे सीमित।
उपभोक्ताओं की इच्छाएँ, किन्तु अपरमित ॥

विना किए परिमाण परिग्रह का, कैसे जन ?
बन सकता है निखिल विश्व में साम्य सन्तुलन ॥

साम्यवाद भी दर्शाते, सन्मति स्वामी हैं।
समवशरण में साम्य मूर्ति, समता-गामी हैं ॥

कहते-दान करो कि सफल हो सम्पति सारी।
आवश्यकता पूर्ति दूसरे की हो भारी ॥

अभय, शास्त्र, आहार और भेषज सुदान दो।
समझो धन्य दान अवसर बो सुकृत बीज दो ॥

है पाथेय यही भाई! परलोक गमन में।
अतः दान करते न कभी भी हिचको मन में ॥

त्याग तपस्या में जीवन का सार सन्निहित।
मानव जीवन सफल इसी में आत्मा का हित ॥

बतलाते—भ्रम मिटा विश्व को करो निशंकित।
सब से पालो प्रेम कामना-रहित निकांक्षित ॥

घृणा त्यागकर निर्विचिकित्सा रखो सौम्य तर।
लोक-मूढ़ता मेट करो अनमूढ़ दृष्टि वर ॥

पर दोषों को ढँक स्व-गुण का उपगूहन हो।
श्रद्धा-विचलित मनुजों का संस्थितीकरण हो ॥

महत जनों में भक्ति अमित, वात्सल्य भाव हो।
करो धर्म की चिर प्रभावना, धर्म-चाव हो॥

है जग पीड़ित जन्म-जरा-मरणों, के दुख से।
आत्म-मुक्ति से छूट सकता, रौरव-पीड़न से॥

धर्म क्षमा मार्दव आर्जव सत शुचि संयम तप।
त्यागाकिंचन ब्रह्मचर्य-मग, 'जग जाता ढप॥

शाश्वत सुख प्रतोपदेश, होता सन्मति का।
मार्ग सहज ही मिल जाता है, पंचम गति का॥

साढ़े उन्तिस वर्ष विचर प्रभु, वीर मेघ-से।
बरसाते वृष-सुधा रहे, निर्लिप्त वृत्ति से॥

आर्य खण्ड के मगध विदेह, ग्राम वाणिज में।
अंग देश पोलाश तथा कौशल, कलिंग में॥

वत्सदेश, हेमाङ्ग क्षेत्र, अस्मक प्रदेश में।
मालव, सिन्धु, सुवीर क्षेत्र, पंचाल देश में॥

सौर और गांधार तथा उस थल, दशार्ण में।
दूर यवन-श्रुति क्वाथ तोय सुरभीर तार्ण में॥

कार्ण आदि देशों में भी, सर्वज्ञ वीर का।
हुआ धर्म-संचरण, हरण भव-भ्रमण-पीर का॥

हुआ बिशद् विस्तार, चतुर्विधि वीर संघ का।
मुनि आर्यिका, श्राविका श्रावक—ग्यारह गण का॥

सर्व प्रमुख गणधर गौतम जी, इन्द्रभूति थे।
अग्निभूति थे द्वितीय, तीसरे वायुभूति थे॥

और शेष शुचिदत्त, अचल, माण्डव्य, अकम्पन।
मौर्य पुत्र, मेदार्य, सु-धर्म, प्रभास साधु-गण॥

सब मिल कर चौदह हजार जन, वीर संघ में।
निशि-दिन रहते रँगे हुये-से, धर्म रंग में॥

कुछ यूनानी फणिक वणिक, भी हुये सु-दीक्षित।
वीर-संघ में बने शिष्य, फारस कुमार वत॥

जहाँ-जहाँ भी गया वीर का, समवशरण शुभ।
वहाँ सुलभ हो गया, धर्म-सम्वर्षण दुर्लभ॥

श्रेणिक-से सम्राट प्रतिष्ठित, श्रेष्ठि भक्त-गण।
वीर-चरण में करते थे सब सफल स्व-जीवन॥

वीर-श्रमण से हुई क्रान्ति छूटा, उत्पीड़न।
जीव-यजन मिट गया, हुआ पूरा परिवर्तन॥

सर्व ख्यात गौतम याज्ञिक-से यज्ञ-विरत जब।
स्वतः अहिंसा परम धर्म में, हुए निरत सब॥

अभय हुए पशु, नर, भग्नाश आश से पूरित।
मिटी-अकाल मृत्यु जैसे, अब जीवन जीवित॥

निस्पन्दित से हृदय हुए उनमें नव धड़कन।
मिटी मलिनतम कुण्ठा मुख से गत दुख-सिहरन॥

जीवन का अह्लाद झलकता जन-आनन पर।
ऋजु धार्मिक सद्वृत्ति समायी, भीतर बाहर॥

सन्मति ज्ञान प्रकाश कर रहा ज्योतिर्मय जग।
भूले भटके सहज आ रहे सज्जीवन मग॥

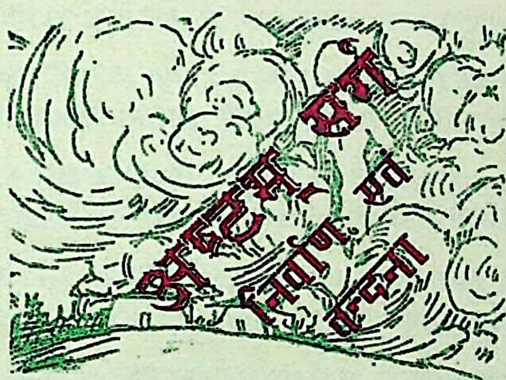
वीर चरण है अभय शरण दुखिया निबलों को।
होते सब निर्द्वन्द, सुदृढ़ सम्बल अबलोंको॥

वीर-कृपा से कुटिल क्रूरता मिट पाई है।
कटु अकाल की संघटना भी घट पाई है॥

सूखे मौसम में जैसे शीतल जल बरसा।
विगत विकलता झुलसन में नव जीवन सरसा॥

मुरझाया विश्वोद्यान अब, हुआ हरा-सा।
मानवता का घाव हुआ अब भरा-भरा-सा॥

वीर-शासन ने जगत को
गति नवल दी।
विश्व के इतिहास की,
झाँकी बदल दी॥


निर्माण एवं
सज्जा

लोकोद्धार विहार वीर कर निरकांक्षित पहुँचे पावा पर ।
धर्म-धाम-सा जो संस्थित है, प्राची में भारत-वसुधा पर ॥

प्रकृति-गोद में श्री-समृद्धि-सा, विहँस रहा इसका कण-कण है ।
और वीर वर शुभागमन से, अभय हुआ सारा प्रांगण है ॥

सुन शुभ वीरागमन मुदित मन व्यक्ति छन्द स्वागत हित आते ।
संग पावा नृप हस्तिपाल भी, दर्शन पूजन कर सुख पाते ॥

अन्तिम जिन उपदेश आज सुन, सबने अपना भाग्य सराहा ।
ले सद्व्रत श्री वीर चरण में, भव्यों ने आत्मिक हित चाहा ॥

बार-बार शत-शत बन्दन कर, लौटे सब अपने अपने थल ।
नैसर्गिक मृदु छटा विहँसती, वातावरण भासता निश्छल ॥

वहाँ हृदयहारी तडाग ने, द्विगणित किया सुशोभा अञ्चल ।
शोभितनील अरुण सित शतदल-हरित पातयुत जलकण चञ्चल ॥

निकट रम्य सर के शुभ उपवन, नाम 'मनोहर' मनहर जिसका ।
अनुपम सुँदरता हँसती-सी, अति अभिराम रूप मृदु इसका ॥

हरी-हरी हरियाली में हैं, खिले लाल पीले नीले-से ।
श्वेत कासनी विविध पुष्प भी मानों अर्चा हित उद्यत-से ॥

किस महान मानव की पूजा, मौन सँजोते पुष्प मुदित मन ।
दिखे तभी पाषाण शिला पर, समाधिस्थ कोई सु-साधु जन ॥

यह सन्मति आसीन अकेले, उपवन के एकान्त स्थान में ।
केवलज्ञानी जग-विज्ञानी, निरत आत्म के शुक्ल ध्यान में ॥

सन्मति-जीवन के बीते हैं, पूर्ण इकहत्तर साल प्रगति में ।
वर्ष बहत्तरवाँ अब चलता, आत्मा की अपनी परिणति में ॥

विघट चुका है समवशरण अब, केवल आत्मिक चिन्तन नीरव।
नहीं ध्यान में परिकर वैभव, नहीं लोक का सुन पड़ता रव ॥

शान्तिमयी जीवन का अंचल, नहीं अतृप्ति बनाती चंचल ।
आत्मिक निधि आवरण-हीन-सी, होती जाती सहसा पल-पल ॥

जीवन की सन्ध्या प्रशान्ति में, सनी हुई-सी चली आ रही।
यह अपूर्व समता-सी विलसित, पग-पग बढ़ती बढ़ी जा रही ॥

सन्ध्या का दूसरा चरण है, चिर विश्राम रात्रि का आना।
पर सन्मति का ध्यान शुभ्रतर, शेष कर्म-मल उन्हें खपाना ॥

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी-निशि बीत रही है ढल-ढल अविरत।
चिर अघातिया कर्म-तिमिर भी, घात कर रहे शुद्ध ध्यान-रत ॥

शुद्ध विहान वेला भी क्रम-क्रम, मन्थर गति से चली आ रही।
और साधना सन्मति विभु की, लक्ष्य-दिशा को बढ़ी जा रही ॥

शेष कर्म तारागण देखो, कुछ-कुछ विघटित हुए जा रहे।
चरम लक्ष्य शिवपद अरुणोदय, चिह्न सहज ही चले आ रहे ॥

वीरात्मा ने तोड़ा लो वह शेष कर्म-बन्धन का पिंजड़ा ।
उन्मुक्त विहग-सा उड़ा-उड़ा, आलोकमयी चित् ज्ञान-जड़ा ॥

कर गया सहज ही ऊर्ध्व-गमन, सत् शुद्ध-बुद्ध निर्मल चेतन ।
तन-गृह से अब शिव सौख्य-सदन, पहुँचा, लहराया जय-केतन ॥

'जय जय जय' बोली सुर नर ने, 'निर्वाण-धाम-गामी की जय'।
झूमते भक्ति में बोल रहे—'श्री महावीर स्वामी की जय' ॥

जय जय जिनवर, जय-जय जिनेन्द्र, जय-जय जगत्राता जगन्नाथ।
जय परमात्म पावन प्रकाम, 'जय' उच्चारित उत्साह साथ ॥

प्रतिध्वनित हुआ भू-नभ मण्डल, 'जय जय' ध्वनिकी लहरें चञ्चल।
पर सन्मति विभु ने सच पाया, चिर सौख्य स्थान अक्षय अविचल ॥

देवों ने रत्न विकीर्ण किए, झिलमिल झिलमिल जगमग-जगमग।
आलोकमयी अब भूमि गगन, उपदेश वीर का ज्योतिर्मग ॥

यह मंगलमय मंगल का दिन, हो गया मांगलिक पर्वपूत।
सन्मति-सन्देश लिए बहता, उन्मुक्त समीरण शान्ति-दूत ॥

प्राची में छाई अरुणाई, क्या आत्म-ज्योति का ही दर्शन ?
क्या सूरज के मिस मुक्त वीर, के ज्ञान-पुञ्ज-रवि का उदयन ?

यह ज्ञानोदय का नवल प्रात, अज्ञान-अमा-तम सहज घात।
सत् स्वर्णिमांशु का मृदु प्रसरण, वह चला ज्योति का नव प्रपात॥

छाया प्रकाश अवनी तल पर, नूतन आभा सी छिटक गई।
खग-रव में कौन प्रभाती स्वर, श्रुत-मधुर सुरीली तान नई ॥

संयोग अनौखा एक और, इस महावीर निर्वाण-दिवस।
श्री गौतम केवल-लक्ष्मी-युत, घातिया कर्म-गढ़ गया विनस॥

भगवान वीर की, संस्मृति के, ताजो प्रकाश में भक्त-हृदय।
श्रद्धा से भर-भर आते- हैं, कर रहे अर्चना सब सविनय॥

स्वाभाविक ही कवि कण्ठों से, निस्सृत जिनवर प्रति भक्ति छंद।
पावन स्वर-लहरी-सरिता में, सब मग्न नहाते भविक-बृन्द॥

गायक गढ़ अपने गीत रहे, प्रभु वीर-वन्दना में ललाम।
गाते जिनको पञ्चम स्वर में, कुछ जन पढ़ते जिन सहस्रनाम॥

झन-झन डप झाँझ मृदंग आदि, वादित्र बज रहे सरगम मय।
जिनके स्वर साथ साथ होते श्रद्धा गायन मधुरिमलय मय॥

यह भक्ति-भाव आवेग देव! तव सु-गुण कथन का कहाँ अंत।
चाहे तन रोम-रोम बोलें, बन लक्ष वाणियां, गुण अनन्त ॥

पर श्रद्धा में अभिभूत हुए, अपनी सीमित वाणी में ही।
गा तव यश करते तोष अमित, है भक्त जनों को बहुत यही ॥

तव संस्तुति है पीयूष कि जो देता शाश्वत अमरत्व सदन।
सम्यक्त्व सहज दृढ़ हो जाता, होती कुमृत्यु की भीति शमन॥

कर पान भक्ति की अंजुलि से, वचनामृत भक्त सबल बनता।
भगवान स्वयं भी बनने को सन्मति-पग-चिह्नों पर चलता ॥

है भक्ति आपकी किंकर को, सच आप तुल्य ही कर लेती।
यह अक्षय समता का प्रयोग, भौतिकता क्या समता देती ?

कोई भौतिक अभिलाष नहीं; केवल निःश्रेयश का साधन।
सन्मति-अनुगामी चाहेगा, कब तुच्छ—तुच्छतम जग-जीवन॥

स्वातंत्र्य चिरन्तन सन्मतिवत् चाहिए पूर्णपद आत्मा का।
जिससे जग-पीड़ित पुरुष स्वयं, पा ले स्वरूप परमात्मा का॥

जिसने तव भक्ति-स्वाद पाया, वह कैसे आत्मिक रस ढीले?
जिसने क्षीरोदक पान किया, वह कैसे खारी जल पीले?

हे देव! न जग में दिखता है निस्पृही, आप-सा उपकारी।
तव जीवन का प्रत्येक चरण, उन्नति-सोपान बना भारी॥

है कौन, मोक्षका मग, जिनेन्द्र! अतिरिक्त आपके दर्शाता?
जैसी कि आपकी विमल छाँह, अन्यत्र कहां यह जग पाता?

संस्मरण मात्र से होता है, गुरु पाप-ताप का वेग शान्त।
जैसे फुहार से मिट जाती अति ग्रीष्म-तपन की जलन क्लान्त॥

अति रोग शोक जब अग्नि प्रलय भीषण रण विपति वारवर्दर।
तव भक्ति समक्ष न रुक पाते, ज्यों भगता तम पा ज्योति जगर॥

इस भाँति वीर का विशद विरुद, करते अनुभव कहते प्रशस्त।
संस्तवन भजन या कीर्ति-कथन, जय-माल-गानमें लोग व्यस्त॥

प्रभु वीर चिन्तवन-चर्चा में, भवि जीव समय यों बिता रहे।
सन्मति निर्वाण-प्रसंग आज, निर्वाण पर्व हैं मना रहे॥

निर्वाण-न कोई गम का क्रम, शाश्वत सुख का शाश्वत उद्गम।
समरसता का अक्षय विहान, चिर दर्श, ज्ञान, बल, सुख-संगम॥

इस भौतिक जग में भी रहता, शव रूप न जो दुख उद्दीपक।
पुद्गल अणु स्वयं बिखर जाते, रहते जो आत्मा के बाधक॥

इसलिए प्रशम मुद मृदुल लहर, सब ओर थिरकती-सी रहती।
आत्मिक उन्नति की वेला में, आह्लाद पूर्ण संस्थिति रहती॥

आनंदमयी अभिनय होते, जिनमें शाश्वत-आनन्द झलक।
झीनी सुखमयी झलक पड़ती, लखते जिसको दर्शक अपलक॥

सन्मति पग-चिह्नों के अनुचर, सब रंक-राव, उन्नत-अवनत।
अंतर कालुष्य मिटाने को, हृद-दीप जलाने को उद्यत॥

लो, शनैः शनैः दिन बीत गया, अलसाई सन्ध्या मुस्काई।
निर्वाण-ज्योति की आभा में, आलोक सु-चीर पहन आई॥

सब नगर-डगर-घर दीप जले, प्रारम्भ हो गई दीपावलि।
जग जगर-मगर हर तिमिर-पहर, नर्तित प्रकाश की किरणावलि॥

तिल-तिल चल-चल अपने में जल, यह जना रही आत्मिक प्रकाश।
निज आतम-ज्योति से ध्वस्त करो, अज्ञान तमस का जटिल पाश॥

आत्मिक विकास की शिखा सजग, सन्मतालोक है दिखा रही।
निज-पर-कल्याण हेतु जीवन, उत्सर्ग सबक है सिखा रही॥

आलोकमयी जीवन का क्रम, तम भी होता जाता स्वर्णिम।
सद्गुण प्रतीक-सा यह अनुपम, स्वर्गिक वैभव भी इससे कम॥

यह त्याग ज्योति का प्रख्यापक, विभु वर्द्धमान की कीर्ति-किरण।
ज्योतिर्मय अन्तर-बाह्य सभी, रे धन्य! वीर शिव-रमा-वरण॥

प्रभु धन्य धन्य सन्मति स्वामी, जिनवर जिनेन्द्र विभु निष्कामी।
शाश्वत सु-शान्ति निधि अभिरामी, शिवपद-दर्शक शिवपथ गामी॥

जीवन में अर्हंत महावीर, फिर जीवनान्त पर सिद्ध सफल।
मानवता की मृदु मूर्ति सुभग, दलितों दीनों के प्राण विकल॥

पीड़ित की आहों के धीरज, शोषित के सब शोषण शोषक।
आश्रय हीनों के दृढ़ आश्रय, पापी उद्धारक पथ पोषक॥

अवलम्ब चाहकों के सम्बल, मानव-मानवता-उन्नायक।
पशुता के बर्बर बार-द्वार, सञ्जीवन के प्रभु परिचायक॥

मानवोत्कर्ष के चिर प्रकर्ष, शुचितम सात्विक जीवनादर्श।
आह्लादपूर्ण तम मूर्त हर्ष, निस्सीम, क्षीण विश्वापकर्ष॥

युग युग में सम्यक मग-द्रष्टा, सम्यक् दर्शन के दृश्य चित्र।
सम्यक् श्रद्धा के मूर्त पात्र, सद्ज्ञान-दान-दाता सुमित्र॥

सुख-शान्ति-उदधि के लहर-लास, अति पतितों के श्वासोच्छ्वास।
शुचि सत्य अहिंसा के विकास, सत् ज्ञान-दीप के चिर प्रकाश॥

विश्वोद्धार-सरसिज-सु-हास, निस्पृहता, समरसता सु-वास।
प्रभु लोक-रंजना से उदास, चिर सुख-दर्शन-बल-ज्ञान-बास॥

हिंसा रजनी को शरच्चन्द्र, अत्याचारों के प्रति द्वन्दी।
सद्दया-तीर्थ के तीर्थङ्कर, शुभ सत्य-शांति के अभिनन्दी॥

प्रभु! पर-पीड़ा-हेमन्त हन्त, जग-हित-हरियाली के बसन्त।
कटु क्लेश-कहर के पूर्ण अन्त, शुभ मोक्ष लक्ष्मी के सु-कंत॥

भव-सिन्धु तरण को वारियान, विभु! सत्यं शिवं सुदरं मय।
रे, जगज्जननि के सफल पूत, हे वीतराग! हो गए अभय॥

सब कालों में आदर्श अमल, चिर उन्नति के अति उच्च भाल;
गत आगत और अनागत में, सुख प्रद प्रशांति के अमरलाल॥

सद्धर्म सु-स्वर सु-मधुर सरगम, वाणी कल्याणी तव प्रकाम।
हे सहस नाम धारी ललाम, तुम निरुपमान उपमान नाम॥

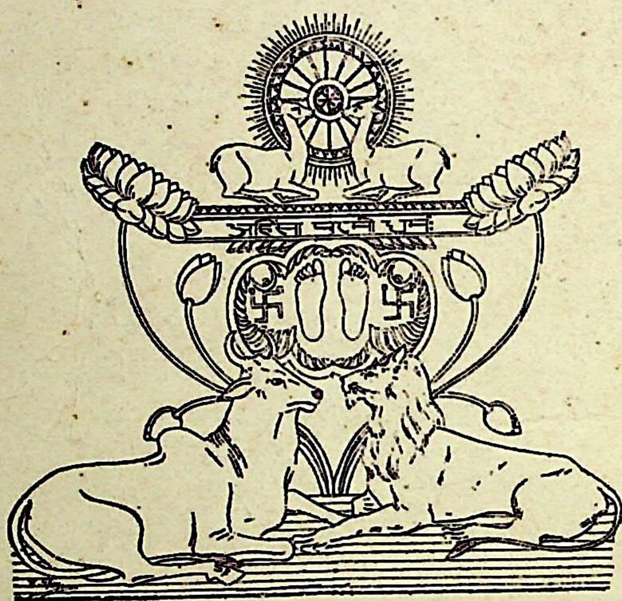
कवि की वाणी के अलंकार, कवि के कवित्व के काव्य सुघर।
कवि के गानों के चिर गाने, फिर भी कवि प्रज्ञा के बाहर॥

फिर कैसे गरिमा-गायन हो, कैसे असीम! अभ्यर्थन हो?
कैसे अभिनंदन पद बंदन, कैसे श्रद्धाञ्जलि अर्पण हो?

निस्सीम देव! सीमित वाणी, यश-गान न कुछ भी बन पाता।
श्रद्धालु विनत अन्तस लेकिन, जय बोल झुका शिर सुख पाता॥

जय जय जय जयवन्त सदा त्रिशला नंदन।
जय जय जय जय जग वंद्यनीय शत-शत वंदन॥




अहिंसा परमो धर्मः